

श्रेय

लोकभारती

देवेन्द्र सत्यार्थी

अंक

श्रेय

सामाजिक तथा सांस्कृतिक गवेषणा प्रधान त्रैमासिक

●

विशेषांक

लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

●

…द्वार-द्वार से तुलसीदल लेता हुआ ऐसे मानस की रचना में तल्लीन कि इसे किसी भी मौसम की हवा में रोकने की हिम्मत न हुई। हर मौसम में हर डाल पर बैठी चिड़िया से यह बात करना चाहता है…

वर्ष ६ अंक ४-५ मई १६७७

।। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।

सौंदर्यं साहितीनां जगति भरतभूनिर्मितानां नितान्तं ।
भूयात् सञ्चारयन्ती प्रयतमतिरियं पत्रिका विश्ववन्द्या ।।
पन्थानं दर्शयन्ती स्वरसमधुरिमापूरितं श्रेयसः स्वं ।
श्रेयोनाम्ना प्रसिद्धा गमयतु सुयशः साहितीकारसंघम् ।।

आचार्य अमृतवाग्भव

●

सम्पादक

डा० मोहनलाल श्रीवास्तव

सहायक

सुशील कुमार जोशी

विद्याप्रकाश

डा० मोहन डबराल

जगदीश श्रीवास्तव

परामर्शदाता

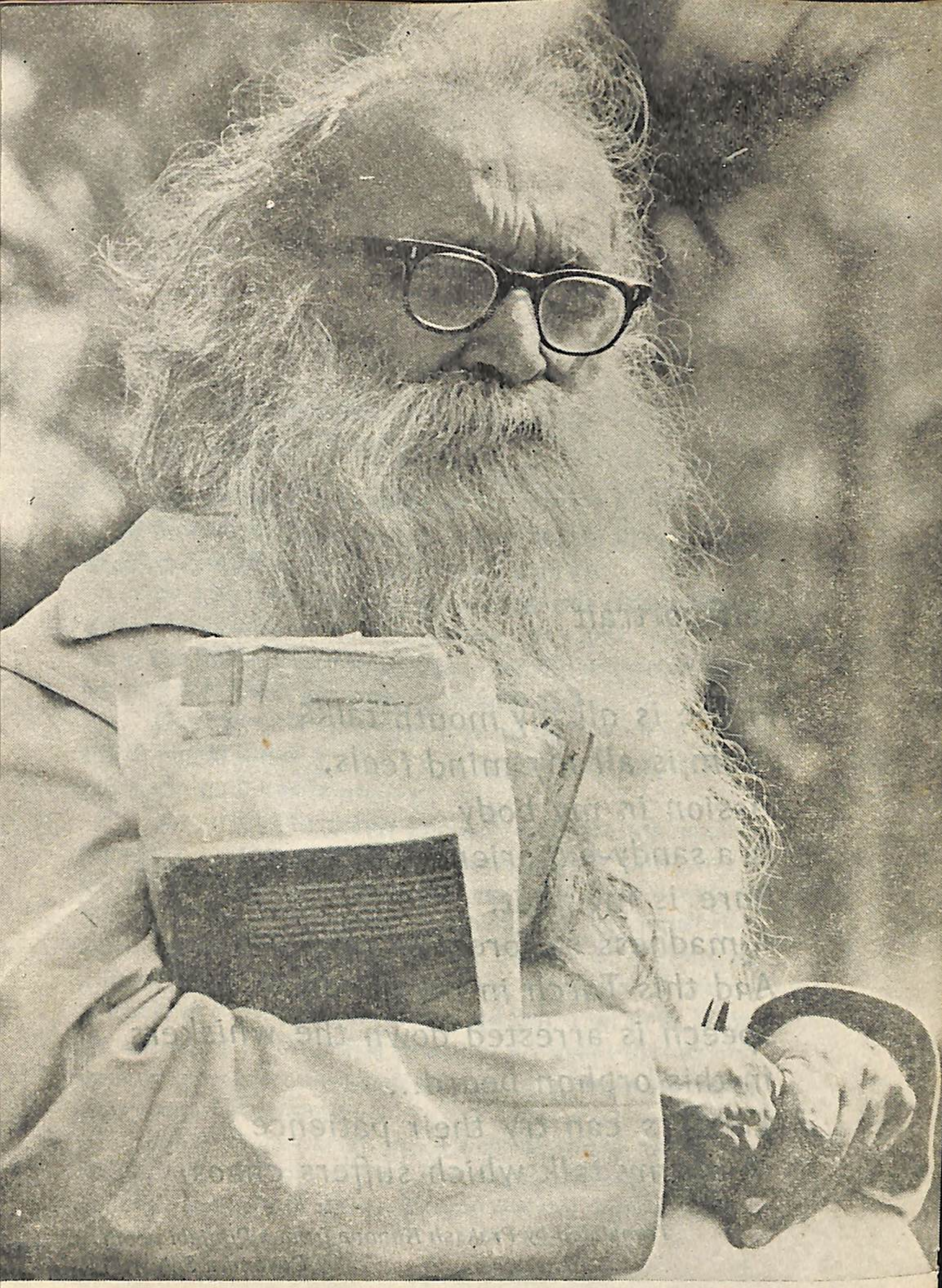
दीपक सेठ

●

श्री मोहनलाल श्रीवास्तव द्वारा प्रकाशित एवं प्रिंट्समैन, न्यू रोहतक रोड, नई दिल्ली में मुद्रित ।

पूज्य आचार्य अमृत वाग्भव
जी के चरणों में
सादर भेंट
मोहन लाल श्रीवास्तव
उदयपुर
9.6.67

क्रम



self-portrait

Flame is all my mouth talks
Atom is all my mind feels,
Fission in my body
Is a sandy-experience,
Bare is my feet,
A madness of forest on my head
And this Torch in my hands...
Speech is arrested down the whiskers
In this orphan beard...
Listners can try their patience
With my talk which suffers chaos

Translated by Prakash Khanna from a Punjabi poem
by Devendra Satyarthi

सम्पादकीय

परस्परं भावयन्तः
श्रेयः परमवाप्स्यथ।

ईर्षा की पगडन्डी से दूर साहित्य-पथ है—मनोराज्य की यात्रा। सभी भाषाएँ विश्वात्मा की सुनहरी किरणें हैं जो रसना के द्वारा मानव की चेतना को अभिव्यक्त करती हुई साहित्य-पथ का शृंगार करती हैं।

खेद है कि भाषाओं के विकास और समन्वित भाषा (हिन्दी) को राष्ट्र की मुखर आत्मा मानने की घोषणाएं राजनीतिक रहीं। इनमें यदि स्वाभाविकता होती तो लोक-साहित्य की अधिकांश प्राणदा निधि अप्रकाशित न रहती। एक प्रकार से लोक-गीतों और कथाओं की उपेक्षा की गई है।

विश्वविद्यालयों ने साहित्य-पथ से दूर एक ऐसे राजमार्ग को चुना जो ईर्षा की पगडन्डी से मिला है और उस महल को जाता है जहाँ मदहोश भिखारी ग़ाफ़िल शहन्शाह से बखशीश माँगता है।

लोक भारती देवेन्द्र सत्यार्थी को 'पद्मश्री' बख़्शी गई। इस इनायत पर किसका सिर अहसान से न झुकेगा। श्रेय-परिवार पुरस्कार देने-लेने वालों के प्रति भाव विभोर है। लेकिन इस सत्य की अवहेलना कैसे की जा सकती है कि बीस वर्षों तक सत्यार्थी जी लोक-गीतों का संकलन करते रहे, समाज सुनता रहा, प्रकाशक मिलते रहे परन्तु तीन-चार लाख ऐसे गीतों का[1] न तो भाव-बद्ध वर्गीकरण हुआ और न भाषागत विश्लेषण। काश ऐसा होता तो विश्वभारती में सत्यार्थी जी का स्थान और अधिक गौरव पूर्ण होता[2]। जो भी हो, निराशा की बात नहीं है। सत्यार्थी जी के इस कार्य की ओर भारत सरकार का ध्यान अवश्य जा सकता है और उनकी इतनी बड़ी संख्या वाले संकलन को वांछित संस्करण का रूप मिल सकता है।

सत्यार्थी जी की यायावरी निष्ठा ने लोगों को अधिक मोहित किया जैसा कि संकलित लेखों से स्पष्ट है। इनके साहित्य के विश्लेषण की ओर भी ध्यान जाना चाहिए जिससे इस लोक-गीत-यात्री के संकलन नैपुण्य को वरीयता

मिले। इस कार्य को दिल्ली-विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग कर सकता था क्योंकि दिल्ली सर्व भाषा संगम पर स्थित है।

सुना है यहाँ जीवितात्मा पर कार्य अच्छा नहीं माना जाता। जब यह स्वत: अपवाद हो गया तब तो सत्यार्थी विचारणीय हो सकते थे! कामिनी कटाक्ष और यामिनी गवाक्ष के इन्द्रजाल में पता नहीं कैसे कोई नर सिंह यहाँ तुलसी-साहित्य की महिमा का गुणगान करता रहा। उसके इस अपूर्व विजय पर हमारी भावना जागृत है।

सत्यार्थी ने भी द्वार-द्वार से तुलसी दल चुनते हुए एक बार पुन: कर्म-सिद्ध किया कि—

स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहि तेहिपान।
गिरा ग्राम सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान:।

और इस 'गिरा ग्राम' की साधना को श्रेय के इस अंक में सुशोभित करने का श्रेय दीपक सेठ को है।

१—श्री जगमोहन ने सत्यार्थी के प्रकाशित लोकगीतों की संख्या—४ लाख बताई जबकि गाँधीजी ने सत्यार्थी के संदर्भ से ३ लाख।

२—सुनीतिकुमार चैटर्जी, गिरिजा कुमार माथुर और वासुदेव शरण अग्रवाल की भी यही कामना थी।

दीपक सेठ

दस्तावेज़

सत्यार्थी जी, आपने लोकगीत के अलावा भी बहुत सी रचना की है, किन्तु आपका नाम अधिकतर लोकगीत के साथ ही जोड़ा जाता है। आपके विचार में यह कहां तक ठीक है ?

साहित्य के क्षेत्र में मेरी यह लम्बी यात्रा शुरू तो लोकगीत को ही ले कर हुई थी। क्योंकि जब मुझमें जगह-जगह घूम कर लोकगीत इकट्ठा करने की धुन थी, तब न तो मैं कहानी लिखना जानता था, न ही मैंने कभी कोई कविता या रेखाचित्र लिखा था। मैं तब यह भी नहीं जानता था कि कोई यात्रा सम्बन्धी साहित्य भी अलग से लिखने की चीज़ होती है। फिर जैसे-जैसे इस देश के लोगों से मेरा सम्पर्क बढ़ा, उनकी संस्कृति को मैंने जाना, तब मुझे ऐसा लगा कि लोक साहित्य कोई म्यूजियम की चीज नहीं है जिसे इकट्ठा करके किताब में बांध कर रखना चाहिए।···यहीं से मेरा रुझान कहानी, उपन्यास और कविता की तरफ़ हुआ। यही कारण भी है कि मेरी सभी रचनाओं में लोकगीत ही भरा पड़ा है। किन्तु वह लोकगीत का संकलन-भर नहीं हैं। वे सब मौलिक रचनाएं है।

साहित्य को लोकगीत या लोक साहित्य से यूं अलग करना ठीक नहीं है, मेरे विचार में। अब गीतांजली को ही लीजिए। जो कुछ उसमें है, वैसा ही तो हमारे लोकगीत में भी है। वैसी ही पनिहारिनें हैं। वैसी ही पूजा की आरती की थाली लिए हुए एक नारी मन्दिर को जा रही है। वैसी ही इन्तज़ार करती एक बिरहिन··· । कहाँ अलग करेंगे साहित्य को लोक साहित्य से ?

लोकगीत की खोज में आप कब और किस भावना से प्रेरित होकर निकले थे ?

मेरा जन्म एक आर्य-समाज परिवार में हुआ। पुराने विचारों के लोग थे। मेरी माँ, मौसी ताई, सब। पंजाबी के बहुत विरुद्ध थे वे लोग। किन्तु स्कूल

में मेरे बहुत सारे विद्यार्थी मित्र थे—जाट—स्ट्रांग पंजाबी स्पीकिंग। तो घर की उन परम्पराओं और रूढ़ीवाद से हट कर, शुरू से ही मेरा मन इन मित्रों में ही रमता था। गांवों से आये इन लड़कों के पास कितने ही लोकगीत थे, और वहीं से लोकगीत की ओर मेरा आकर्षण बढ़ा। घर का "ओम् शन्नो देवी" तो ठीक था, और "भूर्भव: स्व:" भी ठीक था पर गिद्धा···। मेरे मन के भीतर तो 'गिद्धा' समा गया था—

गिद्धया पिण्ड वड़ वे
लाम्हे-लाम्हे न जाई

यह 'गिद्धा' के बोल है। गिद्धा एक लोक-नृत्य है। उसे सम्बोधित करते हुए लोग कहते हैं कि "ओरे गिद्धा! तुम गांव में प्रवेश करो। बाहर-बाहर से न चले जाना।" तो गिद्धा के रूप में लोकगीत का मोह मेरे मन में प्रवेश कर गया था, तब ही। बाद में—१९३६ में—मेरी सर्वप्रथम पंजाबी पुस्तक का नाम भी "गिद्धा" ही था।

इसके बाद, १९२७ में, मतलब विभाजन के बीस साल पहले, मैं लाहौर पहुँचा तो अलग-अलग प्रान्तों से आये विद्यार्थियों से मेरा सम्पर्क हुआ—पठान, काश्मीरी, गुजराती इत्यादि। उनके सम्पर्क द्वारा मैंने महसूस किया जैसे पूरा देश एक संवेदनशीलता के रिश्ते में जुड़ा हुआ है और लोक साहित्य उसी की अभिव्यक्ति है···। मैंने सोचा क्यों न इसे संजोया जाय। यह यूनिवर्सिटी एजूकेशन मेरे लिए नहीं है, शायद। यही तय करके यात्रा को ही शिक्षा का माध्यम बना कर मैं निकल पड़ा था यात्रा-पथ पर।

जिस समय आप इस यात्रा पर निकल पड़े, उस समय सारा देश स्वतन्त्रता-आन्दोलन में व्यस्त था। क्या आपका निर्णय इस आन्दोलन से प्रभावित नहीं था?

अचेतन रूप से हो तो हो परन्तु प्रत्यक्ष रूप में रहा होगा, यह कहना ठीक नहीं। मैंने तो लोक साहित्य को, लोकगीत को, "लोकवेद" के रूप में देखा। यह सभी ऋचाएं हैं, ऐसे मंत्र हैं जो लोगों के भीतर से आये हैं।

परन्तु लोकसाहित्य स्वतंत्रता आन्दोलन से अछूता रहा हो, ऐसा भी नहीं। वह आन्दोलन तो देश की जनता का था और यह लोकसाहित्य भी जनता का ही है—अछूता रह कैसे सकता था? बल्कि इस आन्दोलन की शक्ति का प्रभाव इतना था कि न केवल कितने ही लोकगीत बदल गये, बल्कि कितने ही नये गीत आ गये। लोक साहित्य निश्चित रूप से स्वतंत्रता आन्दोलन में सहायक सिद्ध हुआ। 'पगड़ी सम्हाल जट्टा' लोकगीत ही तो था। एक बार गांधी जी से

दिसम्बर १९३६ में फैजपुर कांग्रेस में मैं मिला था। एक पंजाबी लोकगीत उन्हें बेहद पसंद आया :

रब्ब मोया देवता भज्ज गये
राज फिरंगियाँ दा !

अर्थात भगवान मर गये और देवता भाग गये। अब फिरंगी का राज है। महात्मा जी बोले, "मेरे सारे भाषण और जवाहर लाल के सारे भाषण एक पलड़े पर और अकेला यह लोकगीत एक पलड़े में। यही लोकगीत भारी है क्योंकि इसमें जनता बोल उठी है।

लोक साहित्य लोगों की बहुत ही प्रभावशाली अभिव्यक्ति है। किसी भी समसामयिक धारा से उसे अलग कैसे किया जा सकता है? और मैं तो उसी की खोज में निकला था, मैं भी अछूता कैसे रहता?

आपकी इस योजना का ध्येय क्या रहा? लोकगीत का संलकन या संचयन? रास्ते में आपको जब जहां, जितने भी लोकगीत मिले उन्हें इकट्ठा कर लिया या उनमें से छांट कर इकट्ठा किया और बाकी छोड़ दिया?

अपने भ्रमण के दौरान अधिक से अधिक जितने लोकगीत मिलते थे उनका संग्रह मैं करता रहा। संग्रह के समय मैंने यह नहीं सोचा कि यह गीत अच्छा है या यह बेकार है ··कम अच्छा है। बाद में ज़रूरत के अनुसार अपनी पुस्तकों के लिए, लेख के लिए, इन्हीं में से चुना। 'गिद्धा' के बाद लोकगीत पर मेरी कुछ और पुस्तकें छपीं—पंजाबी में 'दीवा बले सारी रात' और 'उर्दू में मैं हूँ खानाबदोश' 'गाये जा हिन्दुस्तान' अंग्रेज़ी में 'मीट माइ पीपुल' हिन्दी में 'धरती गाती है" 'धीरे बहो, गंगा !' 'बाजत आवे ढोल' और 'बेला फूले आधी रात' और फिर अपनी रचनाओं के लिए कहानी और उपन्यासों के लिए भी इस ही संकलन में से मैंने मनपसन्द प्रभाव ग्रहण किये।

संचयन का आधार क्या रहा?

कोई एक आधार रहा हो सो बात नहीं। जब जैसी ज़रूरत पड़ गई उसके अनुसार चयन कर लिया। किसी आदिवासी की सोशियोलाजिकल और एंथ्रोपोलोजिकल स्टडी को भी मैंने लोकगीत-अध्ययन का आधार बनाया। सौन्दर्यमूलक दृष्टि से लोकगीत को शास्त्रीय संगीत का पूरक मान कर भी मैंने अपने अध्ययन को आगे बढ़ाया। जब जैसी ज़रूरत पड़ गई इस भण्डार में से चुन लिया···

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

मछुए के जाल में मछलियों का मेला !
मछुआ अकेला, पैसा न धेला !
मछुए की आँख में भूख भी उदासी भी !
मछुए की रागिनी भूखी भी, प्यासी भी !

ये मेरे ही एक गीत की पंक्तियाँ हैं।···जब रागिनी भूखी और प्यासी हो, तब जाल में मछलियों के मेले से चयन करना बहुत मुश्किल काम नहीं होता !

आपने लोकगीत के संकलन के लिए किन-किन प्रदेशों का भ्रमण किया ? और करीब कितने लोकगीत इक्ट्ठे कर लिए होंगे ?

पूरा भारत ! लगभग सभी भाषाओं—या यों कहिए ५० के ऊपर जो मुख्य भाषाएं थीं, सभी—के लोकगीत मैंने एकत्र किये। काफ़ी लोकगीत मैंने इकट्ठे कर लिए थे। विभाजन के पहले ही काफ़ी हो गये थे। गिनती बैठ कर तो कभी की नहीं मैंने। परन्तु एक बार जब गांधी जी ने पूछा—कितने लोकगीत जमा किये ? मैंने कहा लगभग तीन-चार लाख। बाद में इस बात का संदर्भ ले कर किसी ने उसे तीन लाख माना, किसी ने चार लाख लेकिन मेरा मतलब किसी विशेष अंक से नहीं था—असंख्य से मतलब था।···बाद में बहुत से लोकगीत दीमक चाट गयी। रास्ते में—बहुत से बारिश में ही भीग गये। जो कुछ जैसे-तैसे बचा पाया वे तो हैं। बाकी न तो कोई साधन ही था सुरक्षा का उस समय, न कोई वातावरण ही था कि इस कार्य की प्राप्ति को सुरक्षित रखा जा सकता। बहुत कुछ बिखर गया !···विलीन हो गया—प्राप्ति के पश्चात् !

आपने किस ढंग से यह काम किया और उस दौरान में आपका जीवन कैसा रहा ?

हिन्दुस्तान इतना उदारमना देश है कि इसमें तो एक आम भिखारी जो कुछ भी नहीं करता, उसको भी खाना मिल जाता है, तो एक लोकसाहित्य वाला भी भूखमरी का शिकार नहीं हो सकता, यही सोच कर मैं घर से बाहर निकला था। लिखता तो था मैं, परन्तु उन दिनों पत्र-पत्रिकाएँ कोई पैसा नहीं देती थीं।···आर्यसमाज में भाषण देने का चस्का था। सुनते-सुनते सुनाने का शौक हो जाता है। मुझे भी ऐसे ही भाषण देने का शौक लगा। इस ही के ज़रिये जगह-जगह मैं अपनी जीविका जुगाड़ लिया करता था। एक जगह से दूसरी जगह जाते समय, किसी के नाम चिट्ठी प्राप्त की। हैडमास्टर, पटवारी, स्कूल मास्टर – जो कोई भी होता—जिसके नाम चिट्ठी होती, अगले दस बीस दिन के राशन की सब जिम्मेदारी उसी की होती थी। उस जगह पहुँच कर अपनी जीविका की चिन्ता मुझे कभी न सताती। मैं तो अपने काम में—लोक-

गीत के संकलन में— जुट जाता। भाषा चाहे आये, न आये, मैं गीत के एक-एक शब्द को देवनागरी लिपि में लिखता था। फिर पढ़े-लिखे लोगों की मदद से उस गीत की पहचान कर लेता। फिर एक-एक शब्द के अर्थ अलग-अलग लिखता। पूरी पंक्ति का अर्थ अलग लिखता और हमेशा यही ध्यान रखता कि काम में सौ फीसदी शुद्धता कायम रहे, उसकी आत्मा आ जाये। वही आदत मेरी हमेशा बनी रही। कहानी और उपन्यास लिखते समय भी। मसलन एक बार मैंने एक कहानी लिखी— गुलदुम। गुलदुम एक पक्षी होता है, जिसके बारे में मैंने इधर-उधर पढ़ा, परन्तु जैसे सन्तोष नहीं हुआ। लोगों से जगह-जगह जाकर मिला गुलदुम के बारे में जानने के लिए। फिर जाकर जामा मस्जिद में कुछ चिड़ीमार मिले। उनसे बातचीत हुई, तब जाकर कहानी लिखी गई। तो जो कागज़ पर आये इट मस्ट बी आथेंटिक, साइंटिफिक···इस तरह पहले दो वर्ष मैंने काम किया। फिर जो कार्य-प्रणाली सीखी थी, उसी के सहारे विवाह के बाद भी यह काम चलता रहा।

परिवार होने से आपके इस काम में अड़चन नहीं आई ?

नहीं। बल्कि मैं तो यह कहूँगा कि मेरी पत्नी का इस काम में बड़ा योगदान रहा। शुरू में ही मैंने अपनी पत्नी से कहा, मैं तो अपना रास्ता छोड़ नहीं सकता। तुम अगर चाहो तो···।" तो उन्होंने कहा, "अगर तुम भिखारी तो मैं भिखारिन, तुम राजा तो में रानी।" मैंने मन-ही-मन कहा, "पहला शब्द ही ठीक है। भिखारी···"

इस दिशा में उसने हमेशा मेरा साथ दिया। कई लोग कहते हैं कि शादी के बिना ही शायद ठीक रहता मेरा जीवन। पर मैं ऐसा नहीं मानता। शादी के बिना न तो मैं लोकगीत की आत्मा के निकट पहुँच पाता, न मुझे वह सुविधा मिलती जो विवाह के बाद मिली। पत्नी के साथ जहाँ भी मैं गया, अपनी योजना के अन्तर्गत—चाहे आदिवासी, चाहे सुसंकृत जनपद— सब जगह मेरी साख बन गई कि यह कोई उच्चका नहीं है। लोग जल्दी ही मुझसे घुल मिल जाते।

अभी आपने 'टेक्नीक' का जिक्र किया था। वह क्या है ?

टेक्नीक यही है कि मुहब्बत···कि एक-एक शब्द कैसे बोलना है कि सामने वाले के दिल के भीतर हर बात घर कर जाये। मैं उसका विश्वास-पात्र बन जाऊँ और लोकगीत के क्षेत्र में जो कुछ भी उसके पास है, वह मुझे दे दे। तो मुहब्बत ही टेकनीक है। हालाँकि मेरी पत्नी कहती है कि तुम मेरे मन में नहीं आ पाए—तुम्हें दरअसल यह टेकनीक आती ही नहीं···।

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

तो फिर यह सिलसिला टूटा क्यों ? या आपके विचार में आपकी योजना पूरी हो चुकी थी····

···सिलसिला टूटा कहाँ ? लोकगीत के अन्वेषण का काम तो मेरा था नहीं । मैं तो इस देश की आत्मा पहचानने निकला था लोकगीत के माध्यम से। लोकगीत इकट्ठे कर के रेफरेंस-बुक्स छपवाने की लालसा तो थी नहीं । तभी मैंने एक समय के बाद रचनात्मक लेखन की ओर ध्यान दिया । मेरी कहानियों, कविताओं और उपन्यासों में लोकसाहित्य भरा पड़ा है । सिलसिला टूटा कहाँ ? 'रथ के पहिये', 'कठपुतली', 'ब्रह्मपुत्र,' 'दूध-गाछ', 'कथा कहो उर्वशी' सभी लोकसाहित्य से ओतप्रोत हैं।

आपने एक जगह लिखा है कि लोकगीत का केवल ऊपर से ही देखकर अध्ययन का इति-श्री नहीं समझना चाहिए। यह नितान्त आवश्यक है कि इनको मात्र काव्य की दृष्टि से देखने की बजाय समाजशास्त्री और नृशास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रमाणिक सामग्री समझकर अध्ययन का विषय बनाया जाय। इससे आपका क्या अभिप्राय है ?

लोकगीत हमारी सांस्कृतिक विरासत है। परन्तु इसका एक ध्येय मनोरंजन भी है। मैं सोचता हूँ, किसी भी प्रदेश के लोकगीत को समझने के लिए केवल मनोरंजन ही हमारा मापदण्ड नहीं बन जाना चाहिए। हमें इससे आगे बढ़ कर इसी के जरिये उन लोगों को समझने का प्रयास भी करना चाहिए जिन्होंने पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी इस विरासत को संजो कर रखा है। सही अर्थ में तभी लोक गीत के अध्ययन का कुछ मतलब हो सकता है और हम देश की आत्मा को पहचान सकते हैं जिसने इतनी सांस्कृतिक-विभिन्नता के बावजूद हमें इतनी एकता दी है। लोकगीत एक दस्तावेज़ है, यह हमें नहीं भूलना चाहिए। मसलन एक शादी का गीत है जो मुसलमान अपने दूल्हे के लिए गाते हैं—अल्लाह, मोरे आवेंगे, मुहम्मद मोरे आवेंगे। ··अब मुसलमान अगर इस्लाम की धारणा ले कर चलें तो दूल्हे को मुहम्मद के रूप में तो कभी नहीं देख सकते। परन्तु हिन्दू दूल्हे को ईश्वर रूप मानते हैं। भारत वर्ष की लोक संस्कृति में आकर जब इस्लाम बस गया तो खुद-ब-खुद यह गीत उभर कर सामने आ गया। तो यह गीत महज़ एक गीत नहीं है, एक दस्तावेज़ है, एक बसीयत है जिसके द्वारा हम स्पष्ट यह समझ सकते हैं कि दो धर्मों के अनुयाइयों का हमारी संस्कृति में कैसा संमिश्रण हुआ।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शायद बहुत समझ कर इसको लोक साहित्य की संज्ञा दी थी। विश्वभारती द्वारा प्रकाशित एक छोटी-सी पुस्तिका में उन्होंने

इसे लोक साहित्य कहा था। इधर राम नरेश त्रिपाठी जी उसके लिए 'ग्रामगीत' शब्द प्रचलित कर चुके थे। 'बाजत आवे ढोल' को आप ध्यान से देखेंगे तो कई पत्र राम नरेश त्रिपाठी जी के मेरे नाम हैं जिनमें उन्होंने 'ग्रामगीत' शब्द का ही प्रयोग किया है और बार-बार आग्रह किया है कि एक ही तो शब्द गढ़ा था— ग्रामगीत – आप इसे लोकगीत क्यों कहते हैं; ग्रामगीत कहिए, क्योंकि यह ग्राम की चीज़ है। मेरा कहना था कि भाई यह ग्राम की चीज़ नहीं, 'लोक' की वस्तु है, पूरी संस्कृति की विरासत है—इसे लोकगीत और लोकसाहित्य ही कहना उचित होगा।

'बाजत आवे ढोल' में आपने लोकवार्ता परिषद की स्थापना की इच्छा प्रकट की थी ताकि बिखरी हुई शक्तियों को एक मंच पर लाया जा सके और नये कार्यकर्ताओं और अध्ययनशील व्यक्तियों को प्रेरणा मिल सके। क्या आपने इस ओर कुछ योगदान दिया ?

हाँ ··ऐसी एक परिषद अवश्य होनी चाहिए। दो या तीन संस्थायें हमारे देश में हैं भी। पर उनकी 'एप्रोच' कुछ ठीक नहीं है। एक बार चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने तमिल के एक लोकगीत का उल्लेख 'कोट किया जिसमें शबनम को मुखातिब करते हुए कहा गया था—बांस के पत्ते पर सोती शबनम की बूंद कहीं उगते सूरज के सामने सूख न जाये। राजाजी सन १९४० में मद्रास की वाई. एम. सी. ए. में आयोजित मेरे भाषण का सभापतित्व करते हुए लोक साहित्य की चर्चा कर रहे थे। उन्होंने कहा—लोक-साहित्य संकलन का काम तो सत्यार्थी जैसे लोगों को ही करना चाहिए, क्यों कि मुझे भय है कि यदि विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों द्वारा यह कार्य सम्पन्न होगा तो उन के सामने लोकगीत बाँस के पत्ते पर सोती शबनम की तरह भोर के सूरज के सामने सूख जायेंगे !

अब जहाँ तक मेरा सवाल है, तो मेरी रुचि तो रचनात्मक साहित्य की ओर अधिक हो गई है। सरकार ने बाद में—'आजकल' के सम्पादन के बाद— आल इंडिया रेडियो की ओर से मुझे लोक संगीत विभाग के संचालन का आफर भी दिया था। शिमला में असिस्टेंट प्रोड्यूसर फोक म्यूजिक की हैसियत से काम शुरू करने का प्रस्ताव था। पर मैंने अस्वीकार कर दिया। मेरा मन रचनात्मक साहित्य में रम गया था। फिर भी मैं अपना योगदान इस क्षेत्र में देने को तैयार हूँ। मैंने लोक-साहित्य पर जितनी पुस्तकें लिखीं हैं, सरकार चाहे तो उनके पुनर्मुद्रण की व्यवस्था कर सकती हैं, क्योंकि बाजार में वे आउट 'आफ प्रिंट' होने के कारण अप्राप्य हैं, रायल्टी मुझे नहीं चाहिए। अगर सरकार चाहे तो

एक बार फिर मैं इन पुस्तकों की नयी भूमिका भी लिख सकता हूँ। बल्कि अपनी पुस्तक 'मीट माई पीपुल' को लेकर एक बार डा० केसकर को मैंने यही सुझाव दिया भी था। परन्तु उनसे तब मेरा झगड़ा हो गया था। लिहाजा उन्होंने इस ओर कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। मैं चुप रह गया।···लेकिन इस क्षेत्र में संभावनाएं हैं और सरकार को इस ओर ध्यान अवश्य देना चाहिए।

(देवेन्द्र सत्यार्थी से एक भेंटवार्ता पर आधारित)



Devendra Satyarthi with Mahatma Gandhi
Linocut by T. Kesavarao

मोहनलाल श्रीवास्तव

लोक भारती

कभी किताबों की दूकान पर, कभी अखबारों के स्टाल पर पन्ने पलटते हुए और कभी काफी हाउस की कोनेवाली कुर्सी पर बैठे घंटों अपने आपसे या अपने किसी सुपरिचित से बातें करते इस आदमी को कई बार देखा है। न जाने कितने ही लोगों से यह रास्ते में उलझता-सुलझता सुबह से निकला शाम को, और वह भी रात भरी शाम को ही, घर पहुंचता है। चलता है तो गर्दन नीची; शायद यह आकाश से शब्द चुनकर ज़मीन पर उसे ढालता है, या फिर किसी पवित्र आकाशवाणी को जनसंकुल रास्ते की उलझनों में खोजने की बेहद कोशिश करता है। इसे अपनी सुध कहां ? बटन खुले, बाल उलझे, कमीज़ का कफ मुड़ा, तसमें ढीले, कोई बात नहीं – कौन रोकने-टोकने वाला है ?

द्वार-द्वार से तुलसी दल लेता हुआ ऐसे मानस की रचना में तल्लीन कि इसे किसी भी मौसम की हवा में रोकने की हिम्मत न हुई। हर मौसम में हर डाल पर बैठी चिड़िया से यह बात करना चाहता है। चलते-चलते किसी भी पेड़ तले या किसी पटरी पर एक ओर हटकर कुछ लिख लेता है। इसकी लिखावट हर चीज को, हर आदमी के सपने को लपेट लेना चाहती है। कोई यह न समझे कि इसकी नजर उस पर नहीं पड़ी या इसकी कान में कोई आवाज नही गई—कनरस के मुरीद को कौन रोक सकता है। राजधानी के बुद्धिजीवियों से बस अड्डे की जमात तक को अपनी ओर खींचने वाला यह व्यक्ति कौन है ? कौन है यह जिसे आप जानकर भी न जान पाए और अनदेखी करके भी देखते रहते हैं।

यह सत्यार्थी देवेन्द्र है या देवेन्द्र सत्यार्थी है ? आज से १८-१९ वर्ष पहले एक चुलबुले पत्रकार ने मुझे इससे उलझा दिया। उसका मतलब तो हल हो गया और वह चाहता भी यही था लेकिन मुझे एक ऐसा अतिथि मिला जो वास्तव में अतिथि है। घर आया और मेरी माता जी से पूछ बैठा, "माता जी ! 'नाहीं आए घनश्याम घेरि आई बदरी' में घनश्याम क्यों नहीं आए? यह आपको

पता है ?" सहज भाव से वह बोलीं गाने में घनश्याम नहीं आए लेकिन गाना गाते ही वे आगए। वियोग शृंगार की यही तो विशेषता है। और यह कह कर अपने पानदान को संभालने लगीं – पान खाया और अपने काम में लग गईं। सत्यार्थी जी पूछ बैठे, "माता जी कहां तक पढ़ी हैं ?" मैंने उत्तर दिया, "जहां-तक आप समझें।"

"बहुत अच्छा, बहुत अच्छा !" और फिर ठहाके भरते हुए कुर्सी पर बैठ गए।...मुझे सत्यार्थी कुछ अधिक अच्छे लगे।

२० वर्षों तक लोकगीतों की कुंजों को झांकता हुआ यह सत्यार्थी समाज की निसर्गगत कामनाओं में एकरूपता देखता रहा और बटोर लाया ढेर सारे लोकगीत।

मेरी उत्सुकता बढ़ती गई। इनका मोह बढ़ता गया। जब कभी रास्ते में ये मिलते मुझे रोक लेते और अपनी कोई न कोई बात अवश्य सुनाते या फिर कहीं बैठकर अपनी किसी रचना को सुनने का आग्रह करते। समयान्तर या परिस्थितिवश मेरे निवास का स्थान बदल गया और फिर इनसे मिलना-जुलना भी बंद हो गया।

रमेशनगर में रहते हुए इनसे जो भेंट हुई वह अव्यवस्थित थी। डा० रामेश्वर दयालु मिश्र और भाई जे० बी० प्रधान के यहां बैठकर इनका एक उपन्यास कई बैठकों में सुना। उपन्यास क्या एक विराट रूप था। प्रत्येक पंक्ति में एक ऐसा संदर्भ जो साहित्य और संस्कृति का सम्पुट था। पता नहीं क्यों नहीं छपा और अगर कुछ थोड़ा बहुत छपा होगा तो उसे देखने का मौका अभी नहीं मिला। वस्तु अभाव के कारण।

सत्यार्थी को बस यही नहीं जो मैंने देखा और जाना। सत्यार्थी विविध हैं। कवि हैं, दार्शनिक हैं, लेखक हैं, समाज-चेतक हैं, मुखर समीक्षक और अमुखरित गायक भी। केवल यही नहीं एक इतिहास हैं और एक युग भी। कुछ इनसे ऊबे तो कुछ इनमें डूबे। ऐसा लगता है कि ये स्वयं क्षितिज हो गए हैं। वैसे तो इनके घर है, बाल-बच्चे हैं रिश्तेदार-नातेदार हैं आना-जाना लेन-देन सभी कुछ है और होता है लेकिन ये सबसे पृथक एक स्वतंत्र समाज और संधि हैं। इसका आलेखन और मूल्यांकन समय ही करेगा लेकिन होगा अवश्य !

संयोगवश मैं फिर से पुराने निवास की ओर लौटा। सत्यार्थी जी के साथ वाले घर में मेरा एक छात्र था, उसने इन्हें ख़बर दी और ये एक दिन घर आ गए। लेखक को पाठक मिले या न मिले कोई श्रोता तो अवश्य मिलना चाहिए। फिर मंडली बनी और "स्रोता बकता ग्यान निधि, कथा राम की गूढ़" होने लगी।

'नील यक्षिणी' लघु उपन्यास लिखा जा चुका था। कई-बार सुना। जी नहीं भरता था। सोचा, अकेले क्यों कुछ मित्रों के साथ सुनूं। डा० रामप्रसाद मिश्र, लक्ष्मीकांत मुक्त, भगवद्दत्त "शिशु", रामकृष्ण भल्ला आदि एक दिन मिल बैठे और गोष्ठी जम गई। राजधानी की साहित्यिक राजनीति प्रधान गोष्ठियों में मेरा प्रवेश स्वत: नहीं है, क्योंकि आत्मविज्ञापित विद्वानों में और आत्मसंप्रेषित आत्मीयजनों में तो अन्तर होता है, और यही मानसिकता को बनाता और बिगाड़ता है। खैर गोष्ठी हमारी कई बार हुई, और ऐसी कि लोग सोचें और भूलें नहीं।

उस गोष्ठी की अध्यक्षता भाई भगवद्दत्त शिशु ने की। कहानी थी, नील यक्षिणी। तो कोई नील यक्ष भी होना चाहिए—और 'शिशु' जी क्यों न हों—अत: वे बुलाए गए और गोष्ठी सम्पन्न हुई।

'नील यक्षिणी' का नामकरण कई बार हुआ है। इसमें सत्यार्थी जी ने विश्वस्त और अविश्वस्त तथा आश्वस्त एवं अनाश्वस्त की तुलना में विश्लेषक और संश्लेषक व्यक्तित्वों का अच्छा जमघट पेश किया है। कहानी वातावरण प्रधान है क्योंकि मैदान वातावरण द्वारा निर्मित है। इसमें पात्रों को साहित्य प्रधान राजनीति और राजन्य साहित्यिकता के कूचों से गुजरना पड़ता है। इसीलिए तो वे तुरुपचाल चलते दिखाई देते हैं और उत्सुकता एवं विस्मय बनाए रखते हैं। यह प्रक्रिया कहानी को रुचिपूर्ण बनाए रखती है। यह तो रही वस्तु कथा और शैली-विशेषता और विश्वविद्यालयी समीक्षा की परिधि, लेकिन यदि ऐतिहासिकता और प्रामाणिकता को एक कर दिया जाय तो 'नील यक्षिणी' का कथा रूप युग-प्रबोधक होगा। राजवंशों की सत्ता-क्रीड़ा से लेकर जीवन के लिए संघर्षरत सामाजिक शक्तियों और उनमें अस्तित्व पाने के लिए मचलता व्यक्ति इस कहानी के मुख्य तत्त्व हैं। सत्यार्थी की कहानी उसकी ज़बानी। जिस करनी के लिए वे परेशान हैं उसकी ही कथनी है। कहानी का सिलसिला चलता ही रहता है इसलिए कि जिन्दगी चलती रहती है। वह रुकेगी तो कहानी भी रुक जायेगी, और लोक गीतों की रवानगी भी। सत्यार्थी की गति शिथिल नहीं है। उनकी एक कविता है:

चित्रा ! दिया जलाओ
जय हो ! जय हो ! जय हो !
आधी रचना मछली-जाल
रूप सलोना
जादू-टोना
रजनीगंधा नर-कल्याणी

नानी कह गई एक कहानी
आंसू में डूबा संसार
गाए मेघ-मल्हार
कोई कहे मोहेंजोदारो
कोई हर्षवर्धन
कोई कहे कुमार सम्भव
कोई इतिहास समर्थन—[1]

यह रचना अभी हाल की ही है, ऐसा कहने का साहस मैं नहीं करूंगा क्योंकि एक रचना कवि का एक युग है और उसके परे कल्प। तथापि कविता की प्रत्येक पंक्तियां कुछ नवीन घोषणा कर रही हैं। इनकी सांकेतिकता की चर्चा की जाय तो संकेत-भाषा समझने के लिए उपयुक्त विराममय वातावरण चाहिए। "आँसू में डूबा संसार—गाये मेघ मल्हार" एक ऐसा सत्य है जो भीतर-बाहर व्याप्त है। एक पत्र में सत्यार्थी ने लिखा :

"हमारी संस्कृति जीवन की मुख्य धारा है, यह तो हमें सदैव स्मरण रखना होगा। गंगा भले ही गंगोत्री से निकलती है, उसे भरपूर करती है अनेक नदियाँ जिनमें यमुना और सरस्वती का योगदान उभर कर सामने आता है, यह और बात है कि सरस्वती लोप हो गई···सरस्वती कला और विद्या की देवी भी तो है। सरस्वती का मंगलमय चौक सजाती हैं लोक गीतों की देवियाँ।"

इस पत्र से ७० वर्षीय व्यक्ति देवेन्द्र सत्यार्थी की विचारधाराओं को समझा जा सकता है। अपने जीवन के इस यात्रा-काल में उन्होंने सप्त-सिन्धु और सप्तपदी तथा—तार सप्तक का ऐसा सफल अनुष्ठान किया कि उनका साहित्य भारतीय लोक मानस का बीजक बन गया है।

महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, काका कालेलकर, सरोजिनी नायडू और सुनीति कुमार चटर्जी जैसी विभूतियाँ इनके प्रशंसक रहे।[2]

लोक संस्कृति और लोकगीत सम्मेलन का आयोजन सत्यार्थी की उपस्थिति में ही सफल समझा जाता था। इस प्रकार के सम्मेलनों का आयोजन 'बापू' बड़ी सतर्कता और चुस्ती से करते थे। वे जानते थे कि भाषा का विवाद हो सकता है और इसके माध्यम से पद लोलुपता या विदेशी सक्रियता बढ़ सकती है। 'बापू' जन-मानस का प्रतिनिधित्व करते थे अतः जनमानस की एकता की स्वयंसिद्धि के लिए लोक भारती की आराधना अनिवार्य थी और इसके लिए समर्पित सेवक सत्यार्थी को उन्होंने पहचान लिया। कई बार उनका परस्पर

---

१. श्रेय : अंक २, वर्ष ५, पृ० ४६
२. विविध पत्रों और लेखों के आधार पर।

मिलन हुआ होगा। कैसे होंगे वे क्षण जब इन दो विभूतियों का हृदय लोक भारती के संगम पर साथ-साथ स्नान करता होगा। कैसी वे हवाएं होंगी जो इनकी चेष्टाओं को स्पर्श कर लोक संस्कृति की वीणा को झंकृत कर गईं।

सत्यार्थी की शैदाई मामूली नहीं है और इनकी आलोचना का क्षेत्र भी असाधारण है और हो क्यों न ? जबकि इनका सीधा-सम्बन्ध लोक-भारती की साधना से है। जैसा भारतीय लोकतंत्र की—वर्तमान दशा है वैसी ही आलोचकों की दृष्टि। भीतर क्या है—इसे कौन देखे।

कोई बताए कि जिस व्यक्ति ने संपादक "आजकल" की हजार रुपए मासिक की ईर्षापूर्ण नौकरी एक साधारण स्वाभिमान और नैमित्तिक साधना के लिए छोड़ दी, वह अवसरवादी हो सकता है ? अवसर तो उन लोगों ने अपने हाथों से निकलने ही न दिया जो सत्यार्थी के समसामयिक मसिजीवी रहे—बिचारा अवसर यह पाता कहाँ से। बस धरती इसकी और आकाश इसका। दोनों के बीच अपनी संवेदना को समेटे यात्रा कर रहा है—यह यात्री कभी और कहीं रुकता है तो उसी जगह जहाँ लोक भारती का स्नेह विश्राम करता है।

एक बार मैं रास्ते में सत्यार्थी जी को मिल गया। फिर क्या था, लेखक को ऐसा श्रोता मिला जिसे वह बाँधकर अपनी कविता सुना सकता है। श्रोता महोदय अजीब बेबसी में साथ हो लिए। सामने एक रेड़ीवाला आड़ू लेकर आ रहा था। श्रोता-वक्ता दोनों ही फटेहाल थे और आड़ू का कमाल। लेकिन तबियत थी—सत्यार्थी जी ने आड़ू वाले के चेहरे की ओर देखा। दोनों की आंखें मिलीं। उसने हाथ जोड़कर कहा "हुक्म बादशाओ !" सत्यार्थी जी बोले "इस आड़ू पर तबियत है" इनका कहना था कि उसने चुन-चुन कर ५-७ आड़ू उठाए और दे दिए—पैसे के लिए न उसने कहा और न इन्होंने दिया। मैंने जब जिक्र किया तो उसने कहा संत हैं—इनकी सेवा मैं कहाँ कर सकता हूँ। मैंने चलते-चलते सत्यार्थी जी से पूछा, 'कि यह आपको जानता है !' उत्तर मिला, नहीं। आड़ू की ओर संकेत करते समय इनकी मुख-मुद्रा वस्तुतः इतनी सरल और प्रभावी थी कि उसका परिणाम निर्विवाद था।

इसे देख यह सोचना स्वाभाविक है कि लोक गीतों के संकलन में इनको कैसा जीवन व्यतीत करना पड़ा। कौन-कौन सी परेशानियाँ हैं जो इन्हें पशेमान न कर पाईं। किन-किन लोगों से न जाने इनको क्या-क्या सुनना पड़ा। फिर भी यह व्यक्ति अड़ा रहा और भारतीय मानस की अनुभूतियों की गहराइयों में छिपा वह चिन्तामणि देख पाया जो लोक संस्कृति का स्रोत है। यूं तो सभी सन्तों ने चिन्तामणि की चर्चा की हैं और सत्यार्थी जी से भी इस विषय में बात चली लेकिन उन्होंने लोक जीवन और लोक भारती के चिन्तामणि को भिन्न

रूप में और अभिन्न रूप में देखा। यह भिन्नाभिन्न क्या है ? इस पर उन्होंने जो उत्तर दिया उसे अविकल यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ : "मैं भिन्न हूँ वह अभिन्न है। जब तक निज को देखोगे अभिन्न नहीं दिखेगा। सुख-दु:ख सभी वर्गों में, सभी कालों में एक से होते हैं, केवल अनुभूति की कोटियाँ बदलती हैं।" यदि भारत की लोक भारती को देखें तो सुख-दु:ख की समान चेतना तरंगित होती हुई नज़र आएगी।

भाषा पर इनका ऐसा अधिकार कि साधारण शब्द-योजना द्वारा असाधारण अभिव्यक्ति बिना किसी प्रयास ! धुनी इतने कि बिना पुकारे न सुनते न देखते।

उलझनों से फ़ुरसत नहीं। वे तो साथ-साथ चलती हैं। बैठे-बैठे एक बार योजना बनी कि चलो, चलकर गुरुदत्त से मुलाक़ात की जाए। मैंने सोचा, दो महान् कृतिकारों के वार्तालाप का सुख भाग्य से ही मिलता है। अवसर नहीं खोना चाहिए। उठे, और चल दिए। रास्ते में कुछ आम लिए और बस-अड्डे पहुँचे। पंजाबी बाग आने पर हम लोग बस से उतरे और गुरुदत्त जी के घर पहुँच गए। रास्ते में सत्यार्थी जी रह-रहकर कभी भुवनेश्वर के पी० ई० एन० सम्मेलन का स्मरण करते तो कभी लाहौर और कभी भारतीय साहित्यकार संघ की किसी गोष्ठी का। गर्ज़ कि जहाँ-जहाँ उन्होने गुरुदत्त को देखा, वहाँ-वहाँ की तस्वीर वे संजोते रहे और मैं सोचता रहा कि शायद इसी धुन ने मेरे आमों को भी छीन लिया। खैर आम से ज़्यादा ताज़े और मीठे सत्यार्थी लगे। बड़े सुख की छाँव में छोटी बातें भूल जाती हैं। १०-१५ मिनट बाद दोनों साहित्यकार मिले। आवभगत शुरू हो गई। कहना-सुनना भी शुरू हो गया। लेकिन आश्चर्य-जनक बात थी कि गुरुदत्त अत्यधिक मुखरित थे और सत्यार्थी—मौन। इनकी मूक अभिव्यंजना मुखर से अधिक तीव्र थी। गांधी जी ने अभिव्यक्ति के इस रूप को सराहा है। एक कवि ने नूतन काव्य-रचना के मोह में छंद बद्ध भी कर दिया—"कई बार के मौन मुखरता से भी अधिक मुखर होते हैं।"[1]

सत्यार्थी की भंगिमा परिचित दर्शक की तरह थी। वे गुरुदत्त के चेहरे में से उनके भीतर झाँक रहे थे। उनकी घूमती-फिरती पुतली, गझिन मूंछों के भीतर मुसकराते होठ और आँखों से झाँकती हँसी मुझे एक ऐसे कौतूहल में डुबोए जा रही थी कि बस—कह नहीं सकता। डेढ़ घंटे बाद वापस आया और ले आया दो 'अन्तर'।

कभी-कभी मुझे सत्यार्थी पर झुंझलाहट भी होती है और कुछ तीखा हो जाता हूँ लेकिन ऐसे समय में भी उनका धैर्य, उनकी भावना और उनका स्नेह बना रहता है।

१. डा० विश्व देव शर्मा की एक रचना।

सत्यार्थी ने भारत की एकात्मता की सेवा की है। एक बार डा० बाबूराम सक्सेना – डा० नगेन्द्र के एक आक्षेप का उत्तर देते हुए बोले कि यदि हम सब लोग प्रादेशिक ढंग से सोचने लगेंगे तो हिन्दी की शक्ति क्षीण हो जाएगी।[1] लोक भारती की यही तो साधना है कि प्रादेशिकता सार्वदेशिकता में बदल जाती है।



अनुभूति की गहराइयों में—देवेन्द्र सत्यार्थी के साथ सम्पादक

१. डा० भगवत प्रसाद दूबे के मुद्रित शोध-प्रबन्ध के विमोचन-उत्सव पर।

महात्मा गांधी

आशीर्वाद

: १ :

भाई देवेन्द्र,

तुम्हारे खत की प्रतीक्षा कर रहा था। ठिकाना मालूम नहीं होने के कारण मैं पहले नहीं लिख सका।

गढ़वालियों के गीत मैं रस से पढ़ गया था। वैसे ही नेपाल के। मैंने इन्दौर में तुम्हारा बहुत काम कर लिया, ऐसा मेरा ख्याल है। इस बारे में एक प्रस्ताव भी था····तुम्हारे नाम की तो दरकार नहीं; काम की है। और वह काम जहाँ तक सम्मेलन का सम्बन्ध था हो गया। अभी भी जो कुछ हो सकेगा वह मैं कर दूंगा। किसी समय यहाँ आ जाओगे तो आनन्द आएगा तुम्हारे काम को ज्यादा समझ लूंगा।

जो कुछ भी लिखो मुझे भेजते रहो।

मगनवाड़ी, वर्धा
२९-६-३५

आपका
मो० क० गांधी

: २ :

भाई देवेन्द्र सत्यार्थी,

ग्राम-गीतों के बारे में आप जो साहस कर रहे हैं, मुझे प्रिय लगता है। ईश्वर आपको सफलता प्रदान करे।

वर्धा
१-७-३५

आपका
मो० क० गांधी

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

: ३ :

"The degnified persistence of Sri Devendra Satyarthi...has made me keep into his remarkable collection of folk-songs of the Provinces he has been travelling in. They are the literature of the people. The middle classes of the Provinces to which the songs belong are untouched by them, even as we of Gujarat are untouched by the songs of the folk..."

In a foreword to Mr. K.M. Munshi's "Gujarat and Literature."

: ४ :

अच्छा तो 'धरती गाती है' की हस्तलिखित प्रति मेरे पास छोड़ जाओ। मैं इसका आमुख लिखूं यह तुम्हारा अनुरोध है। यह तो ऐसे ही है जैसे कोई मीठे दूध में एक मुट्ठी चीनी डालने को कहे। इसमें हमेशा स्वाद बिगड़ने का डर रहता है। फिर भी तुम कह रहे हो तो लिख दूँगा।

कहां-कहां के लोक गीत चुने हैं ? सभी गीत तो एक पुस्तक में कैसे समाँ सकते हैं ? मूल-सँग्रह को सँभाल कर तो रखते हो न ?

पचास से अधिक भाषाओं के कोई तीन लाख लोकगीत संग्रह कर डालना कोई छोटा काम नहीं। तुम्हारे बीस वर्ष इसी काम में खर्च हो गए। आने वाली पीढ़ियाँ कवि-हृदय रखने वाले लेखक का स्मरण करेंगी, जिसने धरती के गीत अपनी झोली में भरकर साहित्य के सम्मुख रख दिए।

'विशाल-भारत', 'माडर्न रिव्यू' और 'एशिया' में तुम्हारे लेख बराबर रस से पढ़ता रहा हूँ। बहुत से लेख छूट भी गए होंगे। किसी खेत की मेंड पर बैठे तुम किसी लोक गीत के चार बोल लिख रहे होगे, या किसी गाँव की कच्ची पगडंडी पर चले जा रहे होगे—मेंह हो चाहे धूप, चाहे आंधी—ऐसी कल्पना मैंने कई बार की है।

'धरती गाती है' अच्छा नाम है। इसमें तुम्हारा कवि-हृदय बोल उठा है। सचमुच लोकगीतों में धरती गाती है, पहाड़ गाते हैं, नदियाँ गाती हैं, फसलें गाती हैं, उत्सव और मेले, ऋतुएँ और परम्पराएँ—सभी गाती हैं।

गुरुदेव को भी तुम्हारा लोक गीत सम्बन्धी कार्य प्रिय था। आज वे होते तो मैं तुमसे कहता उन्हीं के पास जाओ। पर अब यह ज़िम्मेदारी मुझ पर आ पड़ी है। सचमुच मेरे हाथ में यह पतवार ठीक नहीं चलेगी, ठीक सजेगी भी नहीं।

दिल्ली,
३० दिसम्बर १९४७

मो० क० गाँधी

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

: ५ :

आमुख में लेखक की थोड़ी प्रशंसा तो रहनी ही चाहिए। क्यों यह कुछ ग़लत तो नहीं ! यह कोई मज़ाक भी नहीं। पर मैं तुम्हारा आमुख लिखूंगा तो तुम्हारी प्रशंसा नहीं करूँगा। हाँ, लोकगीतों की प्रशंसा अवश्य करूँगा। क्योंकि मैं मानता हूँ कि लोकगीत समूची संस्कृति के पहरेदार होते हैं। जैसे पहाड़ के इस पार से उस पार जाने पर नया ही दृश्य सामने आता है, एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को जाएँ तो लोक गीतों में थोड़ी बहुत भिन्नता तो होगी ही। कन्या कुमारी में तीन समुद्रों का संगम देखकर मालाबार के किसी लोक कवि ने अवश्य कुछ गाया होगा। इसी स्थान पर स्वामी विवेकानन्द ने भारतमाता को साष्टांग प्रणाम किया था। कन्या कुमारी का कोई गीत भी तुम्हें मिला ? तीन समुद्रों के संगम के गीत में भारत माता क्या कहती है, यह मैं अवश्य जानना चाहता हूँ। इस गीत में स्वतंत्रता की कोई पुकार अवश्य होगी। अब तो देश स्वतंत्र हो गया। क्या अभी देश के कानों तक कन्या कुमारी का गीत नहीं पहुँचा ? अच्छा अब छुट्टी।

दिल्ली,
२८, जनवरी १९४८

मो० क० गाँधी

: ६ :

'धरती गाती है' के लिए नन्दबाबू द्वारा अंकित मुख चित्र मुझे बहुत पसंद आया। दूसरे चित्र भी अच्छे हैं। कुछ नए लेख मैं पढ़ गया हूँ। मैंने व्रज कृष्ण से कह रक्खा है कि तुम्हारी पुस्तक की हस्तलिखित लिपि मेरे सामने से न उठाई जाये। आमुख मैं अभी तक नहीं लिख सका। सोचता हूँ, क्या लिखूं।

सबर का फल मीठा होता है। अधीर होने की तो कुछ दरकार नहीं। समय मिलने पर मैं कुछ लिख दूँगा। खाली लोक गीतों की प्रशस्ति लिखने से तो काम नहीं चलेगा। ऊपर-ऊपर की बातें लिखने को भी मन नहीं होता। जिस कार्य में तुम्हारे २० वर्ष खर्च हुए, उसमें मैं २० दिन तो ले ही सकता हूँ। तुम कहोगे मुझमें इतना सबर नहीं। अच्छा ! मैं जल्दी लिखने बैठूंगा। हो सका तो कल सबेरे ही लिख डालूँगा। व्रजकृष्ण से कहो मुझे याद दिला दे। कल सवेरे न लिख सका तो वर्धा से लौटकर तो लिखना ही होगा।[1]

दिल्ली,
२९ जनवरी १९४८

मो० क० गाँधी

---

१. इससे अगले रोज बापू शहीद हो गए।

RABINDRANATH TAGORE

EVALUATION

: 1 :

I have been delighted to listen to Devendra Satyarthi reciting and singing some of the folk-poems and songs which he has been collecting from all parts of India. It is a valuable work requiring delicate sensibility for the exploration of an obscure region of literature which is a spontaneous creation of the sub-conscious mind of the people. Devendra Satyarthi has evidently the gift of a sensitive imagination that has enabled him to do his work so thoroughly because he has enjoyed doing it.

The creative aspect of the popular mind has its revelation which is immense interest and I feel deeply thankful to Devendra Satyarthi for helping us so realise it.

Santiniketan
April 23, 1974

Rabindranath Tagore

: 2 :

Dear Satyarthi,

I have read practically all your articles published in *Modern Review* and congratulate you warmly for their general high standard. They reveal the inner soul of Rural India and it is extremely desirable that they should be known in other parts of the world as well.

I am glad to know that Asia, which is a favourite paper of mine, is going to publish some of your articles.

Santiniketan,
Dec. 5, 1935

Yours Sincerely,
Rabindranath Tagore.

MADANMOHUN MALVIYA

A GENUINE PLEASURE

Dear Satyarthi,

It has been a genuine pleasure to me to hear from your lips some of the fine selections from the folk-lore of the different parts of India which you have already collected. The pathos, the fine poetry and the common sense which are embodied in these songs of the people, deserve to be preserved and popularised. I have no doubt that if a proper selection is made of them, they will be regarded as a necessary part of the study of poetry at our universities.

I heartily wish you success in this endeavour to bring to the knowledge of the public what I expect will soon be appreciated as national literature.[1]

Dehradun
Aug. 15, 1932

Yours Sincerely,
Madan Mohun Malviya,

१. मालवीय जी की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। आज भारत का एक भी विश्वविद्यालय नहीं जहां लोक-साहित्य अध्ययन का विषय न हो।

SAROJINI NAIDU

A RELIGIOUS MENDICANT

I am a great lover of folk-songs and I really love Devendra Satyarthi's work ; he spent many years of his not very long life in collecting Indian folk-songs from many languages. His ambitious-programmes of extending of his folk-song researches into all parts of India is, of course, enviable. Like a religious mendicant he goes about from village to village. He makes no pretence of being one, but he looks the part with his simple earnestness and his flowing hair and beard.

If you want to really feel the pulse of a people and know the heart of a people, whether in the east or in west, you must go to their folk-songs. And when you do go to their folk-songs and get some one to translate them not in the beauty of their original rhythm, perhaps—not in the beauty of the actual poetic words, but in substance, a great revelation comes to you of how fundamentally one the folk-mind is all over the world. It responds to the same emotions ; it employs almost the same imagery ; it reflects the same human feeling, human desires, human sorrows, whether it be a song from Sweden, from China, or from Armenia.

It is curious how many songs are about spinning ; for example, you will find—fundamentally the same ideas expressed ; the thoughts that the spinning-wheel brings to the minds of spinner. On the roof of a Punjab house or by the fireside in a northern country it brings the same—metaphors and similies of life and death. Or take a folk-lullaby ! whether it be sung in Bengal or in Czechoslovakia, it is always the mother telling the little son to go to sleep and that some day he will be a king, and the little girl is promised in one shape or another a bridegroom who will come riding on a horse ; and

the love-songs, even more than the lullabies, are very much the same. And when you do realise that, it is with a great thrill that you perceive that humanity cannot be divided at its roots.

It is only divided in its branches and the more we study folk-songs, the more do we realise that unity of humanity.[1]

●

रेशम के कीड़े

कलकत्ते के बाज़ारों में
अब भी रेशम मिल सकता है।
उसी तरह वह चलता-फिरता
उसी तरह वह बिछता-सोता
सेनिमा जाता
ब्याह रचाता
ट्राम पै चढ़ता।
फुट-पाथों की ये नर्तकियाँ
सभी उदय शंकर की सखियाँ
आंख के आगे आ-आ नाचें;
एक से पूछा बिन-पहचाने
कहो मरे हैं कितने कीड़े
इस साड़ी की इक सलवट में
अंगिया के ख़ूनी रेशम में ?
अम्बर पर है जापानी बमबार
फुट पाथों पर भूखों की यह चीख-पुकार
पिल्ले हैं आदम के बेटे
रोटी के टुकड़े को तरसे।
मर गये होंगे लाखों शायर
लिख-लिखकर अशआर
जैसे मर गये हैं ये कीड़े
कात-कात रेशम के तार।
कौन गिने अब कितने कीड़े
ज़िन्दा हैं और ज़िन्दा रहेंगे।
कलकत्ते के बाज़ारों में
अब भी रेशम मिल सकता है।

—देवेन्द्र सत्यार्थी

1. From a speech Mrs. Naidu delivered presiding over Devendra Satyarthi's Bombay P.E.N. Lecture on Feb. 23, 1937.

काका कालेलकर

लोक-युग का नदी-पुराण

श्री देवेन्द्र सत्यार्थी भारत के लोकगीतों के अनन्य उपासक हैं। उनकी प्रवृत्ति और उनकी निष्ठा की ओर महात्मा जी ने मेरा ध्यान खींचा था। अपनी समृद्ध दाढ़ी के साथ फ़क़ीराना ढंग से उन्होंने सारे भारत का भ्रमण किया है, और भारत के हर प्रान्त के लोक गीत उन्होंने इकट्ठे किए हैं। उनका वह संग्रह एक सागर के जैसा हुआ है।

लोक गीतों द्वारा लोक-मानस और लोक-जीवन का जो प्रगाढ़ परिचय होता है, उसका प्रतिबिम्ब इस उपन्यास में मिलता है।

हमारे पूर्वजों ने अपने ढंग से नदियों के स्तोत्र और नदियों के पुराण बनाए। अब हमारे जमाने के साहित्यकारों को चाहिए कि वे आधुनिक ढंग से नदियों के स्तोत्र और नदियों के पुराण हमें दे दें। 'सप्तसरिता', 'लोकमाता' और अब जीवन-लीला द्वारा मैंने आधुनिक स्तोत्र बनाने का एक नम्र प्रारम्भ किया है। श्रीदेवेन्द्र सत्यार्थी ने इस उपन्यास द्वारा नदी-पुत्रों के लोक-जीवन का पुराण प्रस्तुत किया है। हमारे संस्कृत पुराणों में ऋषि-मुनि, राजा-महाराजा और देवी-देवताओं की भरमार होती है। अब लोक-युग शुरू हुआ है। अब तो हमारे पुराण लोक-जीवन को ही प्राधान्य देंगे। इसका प्रारम्भ हम 'ब्रह्मपुत्र' में पाते हैं।

मुझे विश्वास है कि सत्यार्थी जी के द्वारा भारतीय संस्कृति की ऐसी बहुत-कुछ सेवा होगी, और भारत की जनता उनकी एकनिष्ठ उपासना की कदर करेगी।[1]

---

१. देवेन्द्र सत्यार्थी के उपन्यास 'ब्रह्मपुत्र' की भूमिका से।

गोपीनाथ अमन

जय हिन्द टेकनीक

१९४६ में यह मुलाकात बड़ी दिलचस्प थी। मेरे साथ हकीम खलीलुलरहमान थे। गढ़ मुक्तेश्वर में कांग्रेस का सालाना इजलास था। पूरियों की दूकान पर हकीम साहब और देवेन्द्र सत्यार्थी एक साथ पहुंचे। खरीदारों की भीड़-भाड़ थी और पूरियां बेचने वाला जल्दी-जल्दी तोल रहा था। जैसे ही उसने सत्यार्थी के लिए पाव भर पूरियां तोलीं, हकीम साहब ने अपना दामन पसार कर पूरियां तराजू में से उलट लीं और फ़रमाया, "पाव भर तो ये आगईं और पाव भर और तोल दो।"

"यह जय हिन्द टेकनीक खूब रही" सत्यार्थी ने बरजस्ता फरमाया।

हमारे घर में अब तक यह दिलचस्प मुहावरा चलता है—जय हिन्द टेकनीक।

सत्यार्थी १९४८ से ५६ तक हिन्दी 'आजकल' के सम्पादक रहे। १९५४ में मैंने हिन्दी और उर्दू के कुछ अदीबों और शायरों को बहैसियत वजीर दिल्ली सरकार पार्टी दी थी। उसमें सत्यार्थी भी थे।

सत्यार्थी की लम्बी डाढ़ी से यह न समझना चाहिए कि वे जाहिदे-खुश्क हैं। जिन लोगों को उनसे न्याज़ हासिल है (जिनमें से एक मैं भी हूँ) वे जानते हैं कि उनकी डाढ़ी मुग़ालता-अन्दाज है। अगर सत्यार्थी के लतीफ़े जमा किये जायें तो एक अच्छी-ख़ासी किताब मुरत्तब हो सकती है। बाज़ औक़ात वो फ़ल्सफ़याना हदतक गम्भीर नज़र आयेंगे। और बाज औक़ात आप उन्हें क़हक़हा लगाते देखेंगे।

सत्यार्थी जी में बच्चों की सी हंसी, फ़लसफ़ियों की सी गुफ़्तगू और उसमें तन्ज़ो-मज़ाह की चाशनी और न जाने क्या-क्या मिलता है। उनका अन्दाज़े-तहरीर मुझे बहुत पसन्द है। वे छोटे-छोटे—वाक़्यात की बिना पर बड़े नतीजे अख़्ज़ करते हैं। उनके अन्दाज़ में गहराई भी है और बुलन्दी भी। साथ ही रवानी भी है। उनमें जमूद नहीं है। उनकी तहरीर पर वही एक रंग ग़ालिब रहता है—जय हिन्द टेकनीक!

 श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

W. G. ARCHER

OVER THREE LAKHS OF FOLK-SONGS

.....W.G. Archer then pointed out that it was in the 1920s that the tremendous upsurge of national feelings evoked a new interest in traditional poetry and amongst those who felt this need for a national literature was Devendra Satyarthi, a Hindu poet from the Punjab, who said that a 'nation reborn must be inspired by its folk-songs.' "It was that passionate desire for a national literature that compelled Ram Naresh Tripathi to make his collection of Bhojpuri songs and Rakesh to record the songs of the Mithila," said Mr. Archer. "This was the moving force behind the work of Jasimuddin in Bengal and it inspired Devendra Satyarthi to undertake his famous journeys, in which he would set off 'with hardly a rupee and hitch-hike from village to village all over India, coaxing peasants to sing their songs. In this way he collected over 3 lakhs of songs.[1]

●

क्या हैं आखिर हम सब मिलकर
हम सब मिलकर ?—
वृक्षों का एक झुरमुट
बार बार बज उठते हैं
ढोल पुराने वक्तों के···

—एक सन्थाल लोकगीत

1. *Art and Letters* Vol. XXIV : No. 2, Second Issue for 1950 : p 64.

सुनीति कुमार चैटर्जी

अग्रगामी संस्कृति-दूत

भारत के सभी प्रान्तों के लोक-गीतों के सम्बन्ध में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने अनेक हृदयस्पर्शी निबन्ध लिखे हैं, और वे 'विशाल-भारत' और 'माडर्न रिव्यु' के पाठकों से सुपरिचित हैं। सुप्रसिद्ध अमेरिकन पत्र 'एशिया' में प्रकाशित पठान लोकगीत-सम्बन्धी लेखों के द्वारा वे अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य-क्षेत्र में भी प्रवेश कर चुके हैं।

समूचे भारत में सत्यार्थी जी एकाकी लेखक हैं, जिन्होंने लोक-साहित्य के प्रसार को अपने जीवन का एकनिष्ठ ध्येय बना लिया है। स्वयं प्रत्येक प्रान्त में पहुंच कर, उत्साह और साहित्यिक प्रतिभा-द्वारा परिश्रम की थकन को हल्का करते हुए, उन्होंने लोक-साहित्य का संग्रह किया, इसका अनुवाद प्रस्तुत किया और इसे विश्व के सम्मुख रख दिया।

सन् १९३२ में, जब सत्यार्थी जी कलकत्ते आये, तब मुझे उनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लम्बे बालों और दाढ़ी के द्वारा और प्रतिभाशील मुखाकृति और भावपूर्ण आँखों के कारण, किसी पुरातन युग के पैग़म्बर ही नज़र आ रहे थे। यद्यपि इस पैग़म्बराना रूप में भी थोड़ा विदेशीपन अवश्य था, क्योंकि उनकी प्रत्यक्ष युवावस्था उनके पैग़म्बराना उपचार का प्रतिवाद कर रही थी।

उन्होंने मुझे कोमल संगीतमय स्वरों में सम्बोधित किया और उत्सुकता द्वारा मेरे हृदय पर अनुकूल प्रभाव डाला। यहाँ मैं यह बता दूं कि हमारी बात-चीत का माध्यम अंग्रेजी और हिन्दी था।

साहित्य तथा भाषा का विद्यार्थी होने के नाते मैं उनकी यात्राओं में विशेष रुचि रखता था, जिनका एकमात्र उद्देश्य था हमारे किसानों की मौखिक परम्परा में प्रयोग होने वाले गीतों, कविताओं तथा गाथाओं को एकत्रित करना। हमारी ग्रामवासिनी जनता कितनी ही निर्धन और अशिक्षित क्यों न हो, अभी उसके जीवन से कविता की विभूति का लोप नहीं हुआ—काव्य-

अमृत का रसास्वादन, वस्तुत: यही तो लोक-कविता है—एक भारतीय सूक्ति के शब्दों में यही तो जीवन के विष-वृक्ष का मीठा फल है, जो जनता के कठिन और कठोर जीवन में थोड़े-बहुत रस का संचार कर पाता है।

अनेक व्यक्तियों के समान एक समय मैं भी वैरागियों और बाउलों के गीत लिपिबद्ध करने की ओर अग्रसर हुआ था। इसीलिए पंजाब के इस अज्ञात गीत-संग्रहकर्त्ता में मेरी रुचि बढ़ गयी थी।

सत्यार्थी जी ने मुझे अपनी योजनाएँ बतायीं कि किस प्रकार वे समस्त भारत की यात्रा करने का ध्येय रखते हैं, जिससे वे जन-जन के मुख से सुनकर सभी प्रदेशों से और सभी भाषाओं के गीत लिपिबद्ध कर सकें। कुछ परवाह नहीं, यदि वे गीतों के शब्दों को समझ नहीं पा रहे, जबकि गायक उन्हें स्वरों में संजोये जा रहा हो, पर सत्यार्थी जी में इतना धैर्य है और इतना बोध भी, जिससे वे गीत के मर्म तक जा सकें, उसका शब्दानुवाद प्राप्त करने का उपालम्ब कर लें और इस प्रकार एक बहुमूल्य सामग्री जुटाते चले जायें।

क्या मैं भी कुछ सुझाव रख सकता हूं, यह बात मेरे मन में अवश्य आयी, जिससे सत्यार्थी जी अपने कार्य को सर्वांगपूर्ण रीति से सम्पन्न कर सकें?

सत्यार्थी जी बहुत नम्र थे और इस बात के लिए उत्सुक थे कि कोई उनका पथ-प्रदर्शन करे। उस समय मुझे उनके संग्रह के विस्तार का पूर्ण परिचय नहीं था। अत: मैंने यह सुझाव रखा कि अच्छा होगा यदि वे इतने विशाल कार्य-क्षेत्र को हाथ में लेकर अपनी शक्तियों का अपव्यय न करें। क्यों न वे पहले अपने प्रान्त पंजाब के कार्य पर ही अपना समस्त ध्यान केन्द्रित कर दें और अपनी शक्ति के अनुसार अधिक-से-अधिक गीत लिपिबद्ध कर डालें? मुझे विश्वास था कि पंजाब विश्वविद्यालय, पंजाब सरकार या पंजाबी किसान और पंजाबी भाषा का भला चाहने वाली कोई सार्वजनिक संस्था उनके विशाल गीत-संग्रह के प्रकाशन का भार अपने ऊपर ले लेगी।

मैंने उन्हें बताया कि किसी एक प्रदेश का लोकगीत-अध्ययन सदैव लोकप्रिय होता है। पंजाबी लोकगीतों की दिशा में सर आर० सी० टेम्पल का कार्य भुलाया नहीं जा सकता। यद्यपि खेद का विषय है कि उनके संग्रह का कोई सुन्दर संस्करण सुलभ नहीं। इधर श्री रामनरेश त्रिपाठी का संग्रह—कविता-कौमुदी (ग्राम गीत) प्रकाशित हो चुका था, जिसमें युक्त प्रान्त के अनेक गीत, प्रस्तुत किये गये थे। श्री झवेरचन्द मेघाणी का 'रढियाली रात' और दूसरे गुजराती लोकगीत-संग्रह भी भुलाने की वस्तु नहीं थे। रायबहादुर दिनेशचन्द्र सेन के आदेश पर संगृहीत तथा कलकत्ता-विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित पूर्वी बंगाल के कथागीत भी उल्लेखनीय थे।

पर सत्यार्थी जी विश्वविद्यालय सरीखी शिक्षण-संस्थाओं से सहायता पाने की ओर उदासीन थे। वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर से मिले और अपने देश-व्यापी लोकगीत-संग्रह के लिए आशीर्वाद प्राप्त किया।

अनेक वर्षों की खानाबदोशी के पश्चात् सत्यार्थी जी ने अपने जीवन का ध्येय पा लिया है। उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा दिखा दिया कि उनमें एक-एक भाषा और एक-एक बोली के लोकगीतों के द्वारा भारत के हर्ष और विषाद को सुनने की धुन है। निस्सन्देह उन्होंने स्काटलैंड के देशभक्त फ्लैचर के कथन की पुष्टि की है, जिसने सन् १७०६ में कहा था—'किसी भी जाति के लोकगीत उसके विधान से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।'

सत्यार्थी जी को चाहिए कि वे भारत के समीपवर्ती देशों के लोकगीतों का रसास्वादन करते रहें, जिन्हें उन्होंने लोक-कविता की मौखिक परम्परा से लिपिबद्ध किया है। गीतों की मूल भाषाओं के बोल नागरी लिपि में सुरक्षित देखकर मेरा हृदय पुलकित हो उठता है। मेरे लिए इनका विशेष वैज्ञानिक महत्त्व है। अनुवाद की शैली में भी सत्यार्थी जी ने वैज्ञानिक और कवि के दो विभिन्न दृष्टिकोणों में सन्तुलन स्थापित किया है। और जहाँ तक गीतों की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करने का सम्बन्ध है, सत्यार्थी जी आदि से अन्त तक एक चिन्तनशील और अग्रगामी संस्कृति-दूत के रूप में सदैव हमारी भाषाओं की रंगभूमि पर खड़े रहेंगे।[1]

RAMANAND CHATTERJEE

UNIVERSAL

Devendra Satyarthi has been very usefully occupied for some years in collecting the folk-songs of different parts of India in the languages spoken there. His collection is already rich and I hope it will be richer as time passes. The work he has been doing is very important. Folk-songs enable us to understand the mind and heart of the people. From similarities in the folk-songs of different regions we perceive the unity in deversity in human nature—and if the folk-songs of all countries could be collected and compared it could be seen that there was one mind and heart underlying them common to all mankind.[2]

---

१. देवेन्द्र सत्यार्थी के लोक-साहित्य अध्ययन 'बेला फूले आधी रात' १९४८ का आमुख।
2. From—The Modern Review, Sep. 1934.

वासुदेवशरण अग्रवाल

चक्रवर्ती

शहर के द्वारा गाँव को समझने का जो प्रयत्न है, देवेन्द्र सत्यार्थी उसके प्रतीक हैं। बेरोक-टोक बहने वाले पवन की तरह वे पैशाची भाषा के भू-भाग काश्मीर से आन्ध्र देश व सिहल तक, एवं आसाम से सिन्ध तक घूमे-फिरे हैं। वे जनपदीय जगत् के सच्चे चक्रवर्ती हैं। उनके रथ का पहिया अपनी ऊँची ध्वजा से ग्रामवासिनी भारतमाता की बन्दना करता हुआ सब जगह फिर आया है।

देवेन्द्र सत्यार्थी की शैली बहुत ही सुन्दर और भावपूर्ण है। लेख के चित्र-पट पर तूलिका के परिमित संकेतों के द्वारा वे जनपदीय भारत की गर्वीली आत्मा को हमारे सामने प्रकट करने में सफल हुए हैं। उनके शब्दों में भारत का अनुभव, गीतों से भरे हुए प्रत्येक जनपद का अनुभव प्रतिबिम्बित हो उठता है।

भारत के अन्तर्प्रान्तीय लोकगीतों के क्षेत्र में देवेन्द्र सत्यार्थी ने जो जय-पताका खड़ी की है, उसकी वन्दना करते हुए हमारा ध्यान गुजरात के साहित्य-कार स्वर्गीय झवेरचन्द मेघाणी के कार्य ओर भी जाता है···देवेन्द्र सत्यार्थी का कार्य भी हिन्दी संसार में उचित सम्मान के योग्य है। एक दिन ऐसा आयेगा, जब उनका लगाया हुआ वह पौधा पुष्प के तौर फलित होकर हमारे साहित्य में नये मंगल का विधान करेगा। वे हमारे लिए जनपद-जन की प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने में सहायक हुए हैं। तीन लाख लोकगीतों के संग्रह से उनकी झोली भरी है।

उन के इस चक्र की नाभि में सभी प्रांतों की भाषाओं के अरे पिरोये हुए हैं।

उनका वह कार्य एक महान कार्य हैं, वेद की भाषा में कहें तो उसे 'माह्यय कर्म' अर्थात महान प्रशंसनीय कर्म कह सकते हैं।

निजि संकल्प बल से यह साका करके देवेन्द्र सत्यार्थी ने भारतीय लोक-संस्कृति को फिर से चिताने के कार्य को बहुत आगे बढ़ाया है।[1]

१—देवेन्द्र सत्यार्थी के लोक साहित्य अध्ययन 'धीरे बहो गंगा' [१९४८] के आमुख से।

रामनरेश त्रिपाठी

आगे आप जैसा उचित समझें

प्रिय सत्यार्थी जी

आपका १७-४-'४० का पत्र ऐन आपकी चर्चा के समय मिला। हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार आपकी आयु बड़ी होगी, वह तो आप भी सुन चुके होंगे। कुछ समय पहले आप प्रयाग आने वाले थे। आपकी प्रतीक्षा हो रही थी, पर आप तो जान पड़ता है, वहीं पे रम गये। सारा परिवार साथ है तो वहाँ शाम हुई, वहीं घर हो गया। मुझे आपका वर्तमान जीवन बहुत प्यारा लग रहा है और स्पर्धा होती है, जैसे आपने मेरा जीवन छीन लिया है।

मैं भी कभी घुमक्कड़ था, पर अब तो बाहर की अपेक्षा भीतर का वज़न इतना बढ़ गया है कि मिलने-जुलने की इच्छा नहीं होती।

बाहर का वज़न ढोया जा सकता है, भीतर का नहीं।

बहुत ही भाग्यशाली पुरुष होंगे, जिनमें एक आप हैं, जिनमें भीतर का भार कम होता है।

ग्राम-गीतों के सम्बन्ध में जिस मार्ग पर चलने की इच्छा मैं वर्षों से कर रहा था, उसे तो आप ने नाप डाला। गीत सम्बन्धी मेरी लालसा अवश्य मिट गयी, पर घूमने की लालसा तो बढ़ती ही जा रही है।

आप का साहस धन्य है। आप की सच्ची लगन इतिहास की वस्तु हो गयी है। मैं आप को प्रणाम करता हूँ।

आपके लेख, मैं मासिक पत्रों में जहाँ पाता हूँ, बड़ी रुचि से सब पढ़ जाता हूँ। आपने ग्राम साहित्य को समझा भी खूब है और उसे प्रकट करने की आप में कला भी प्रशंसनीय है। आप की यात्रा का रोचक वर्णन और गीत-संग्रह पुस्तकाकार में पढ़ने की उत्कट इच्छा है।

मैंने १९२५ में गीत-संग्रह का कार्य आरम्भ किया था। उस लोहे जैसे नगण्य पदार्थ को आप ने छूकर सोने का बना दिया।

इतने बड़े देश में हज़ारों संग्रहकर्ताओं के उठ खड़े होने की मेरी ललक

अब बुझ गयी। हज़ारों तारे उठें चाहे न उठें, एक चन्द्रमा का उदय काफी है।

इस क्षेत्र में आप ही पहले और आप ही अन्तिम होंगे। इतना परिश्रम कौन करेगा ?

हिन्दी की दशा अवर्णनीय है। सचमुच उलाहनाबाज़ी का कार्य बहुत सरल समझा जा रहा है।

पतंगबाज़ी की मिसाल आप ने बहुत ही चुभती हुई दी। वास्तव में हिन्दी के लेखक पतंग ही समझे जा रहे हैं।

लोकगीत से मैं ग्राम-गीत को अधिक सार्थक समझता हूँ। ग्राम शब्द में जो पवित्रता है, वह 'लोक' में नहीं।

शहर में भी जो गीत उपलब्ध होते हैं, वे भी ग्राम ही के हैं। उनकी भाषा और उन में वर्णित विषय दोनों ही ग्राम के होते हैं।

शहर वालों ने तो अभी कुछ किया ही नहीं। जो कुछ उनका है वह छप चुका है और छपता ही रहता है।

आप तो गांव का ही अधिक संग्रह कर रहे हैं। उसकी भाषा भी गाँव की ही है, अतएव ग्राम-गीत मुझे ठीक जान पड़ता है।

कुछ लोगों ने ग्राम्य लिखा है, वह गलत है। ग्राम्य का अर्थ तो गंवारू है। गुजराती के लोक शब्द का व्यापक अर्थ है। हिन्दी में अभी यह कुछ अपरिचित-सा है और जो सम्पत्ति आप को ग्रामों से मिल रही है, उसका यश उन्हीं को मिलना चाहिये।

नामकरण के समय मैं इस पर विचार कर चुका हूँ और मैंने 'ग्राम-गीत' शब्द ही उपयुक्त समझा। आगे आप जैसा उचित समझें।[1]

हिन्दी मन्दिर प्रयाग — आपका स्नेहस्थ
२२-४-१९४० — रामनरेश त्रिपाठी

हमारा यह यत्न होना चाहिए कि देश का एक-एक जनपद और एक-एक ग्राम सम्पन्न होता चला जाय। पग-पग पर जीवन की नई चेतना प्रकट होनी चाहिए।···संस्कृति की ऊंची आसन्दी पर बैठने का एक-एक ग्राम को समान अधिकार होना चाहिए।

—सत्यार्थी, **भारतमाता ग्रामवासिनी**

१—देवेन्द्र सत्यार्थी के लोकसाहित्य 'बाजत आवे ढोल' [पृष्ठ १३८-३९] से।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

हम लोगों के कहने लायक कोई बात बची ही नहीं

जीर्णाशीर्णा वट प्ररोह जटिलां कृष्णां तमाल प्रभाम्
तां मोहम्मद धर्म साधनपरां 'देवेन्द्रता' दायिनीम्
'सिक्खत्वं' च गुरुत्वम प्यधि गतां रामामनोहारिणीम्
ग्रामग्राम विहारी नागर नटीं दाढ़ी प्रगाढ़ीं भजे।

पुराने, दूर विस्तीर्ण बरगद के प्ररोहों के समान जटिल, काले-काले तमाल वृक्षों की प्रभा धारण किये हुए, उस ग्राम-ग्राम विचरने वाले नागर की नटी गाढ़ी दाढ़ी की मैं वन्दना करता हूँ, जो एक साथ मोहम्मद धर्म साधन में भी तत्पर हैं; 'देवेन्द्रता' भी दे सकती है, सिक्ख [शिष्य] बनने में भी और गुरु बनने में भी समान रूप से सहायक है और जो मनोहारिणी भी है।

इति मंगलाचरणम्

प्रिय सत्यार्थीजी महाराज, प्रणाम।

कई कृपा पत्र मिले। जवाब नहीं दिया। क्यों नहीं दिया, इसका एक कारण है। मगर क्या कारण है, वह बहुत देर सोचकर भी न समझ सका। सोचा था। कुछ बहाना बना दूंगा लेकिन बड़ी देर सोचने पर भी जब बहाना नहीं सूझा तो सोचा एक गोल-मोल वाक्य लिख दूँ। सो लिख दिया। और सब कुशल है।

'विशाल भारत' और 'माडर्न रिव्यु' में आपके दर्शन प्रायः हो जाते हैं। आपके ये लेख बहुत उत्तम कोटि के होते हैं। मैंने बाबा श्रेणी के पाठकों को उन्हें पढ़ते देखा है। महात्माजी ने आपकी प्रशंसा में जो वाक्य लिखे हैं, बहुत ठीक लिखे हैं। हम लोगों—मित्रों—के कहने लायक कोई बात बची ही नहीं। केवल एक बात कहने की रह गयी है कि 'भई' पक्के जर्नलिस्ट होते जा रहे हो।

आपकी 'खैबर की आजाद रूहें' बड़ी अच्छी रचना है।

यथा समय पत्र न दे सकने के कारण मैं लज्जित हूँ। आलसी हूँ, मगर हूँ तो आपका छोटा भाई, ख़बर लेते रहियेगा। भाभी जी को प्रणाम और 'कविता' को प्यार। घर के सभी लोगों का कुशल समाचार दीजियेगा।[1]

शान्ति निकेतन — आपका
१९-१०-१९३५ — हजारीप्रसाद द्विवेदी

●

अज्ञेय

आपने वायदा किया था

प्रिय सत्यार्थी जी,

आपने वायदा किया था कि आप 'प्रतीक' के प्रथमांक के लिए कहानी देंगे, प्रथमांक अब प्रेस में जाने को तय्यार है। हमलोग इलाहाबाद आकर जम गये हैं—मकान आदि लेकर—और कार्य नियमित रूप से आरम्भ हो गया है। आशा है आपका सहयोग हमें निरन्तर मिलता रहेगा।

आप लौटती डाक से कहानी भेजिए। भविष्य में भी कब क्या भेज सकेंगे, सूचना दें तो अनुगृहीत हूंगा।

प्रत्येक स्वीकृत रचना पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था हम कर रहे हैं।

आशा है आप सानन्द हैं।

१४ हेस्टिंग्स रोड, इलाहाबाद — सस्नेह आपका
१८-३-१९४७ — स० ही० वात्स्यायन

---

१. देवेन्द्र सत्यार्थी के लोकसाहित्य-अध्ययन 'बाजत आवे ढोल' (पृष्ठ १४२) से।

सुमित्रानन्दन पन्त

साहित्य की श्रीवृद्धि

प्रियवर सत्यार्थीजी,

'आजकल' के लिए आदेशानुसार रचना भेज रहा हूँ कृपया स्वीकार कीजिए। 'धरती गाती है,' आदि पुस्तकें मुझे मिल गयी थीं।

ऐसी सुन्दर कृतियों से हिन्दी साहित्य के भण्डार की श्रीवृद्धि करने के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें।

आशा है आप सानन्द हैं।

बेली रोड, प्रयाग
२८-२-१९४९

आपका
सुमित्रानन्दन पन्त

●

राहुल सांकृत्यायन

लगन और विवेचन-शक्ति

प्रिय सत्यार्थी जी,

आपका पहली फरवरी का पत्र मिला। तिब्बती गीत मार्च की 'सरस्वती' में छप रहे हैं। आप को मिल जायेंगे।

'तिब्बत में सवा वर्ष' की एक भी कापी मेरे पास नहीं है। मैं ने कई बार कहा पण्डित जयचन्द जी को भिजवाने के लिए; किन्तु कोई कापी नहीं आयी।

आप के संग्रहीत गीतों को मैं पढ़ता रहता हूँ। आपकी लगन और विवेचन-शक्ति स्तुत्य है।

प्रयाग
७-२-१९३५

आपका
राहुल सांकृत्यायन

श्रेय : लोक भारती देवेन्द्र सत्यार्थी

LIVING LIKE A GYPSY

QURRATULAIN HYDER

In 1937, Mahatma Gandhi sent a message to Devendra Satyarthi : "Meet me at Faizpur Congress, or else I'll consider you a fake !"

At the age of twenty-nine, the young writer was fast becoming an authority on Indian folk poetry and had just presented Gandhiji with the first, khadi-bound copy of his book about the folk dances of the Punjab.

Born in 1908 at Bhadaur Sangroor District in East Punjab, Devendra Satyarthi gave up his studies at the D.A.V. College in Lahore to go off on a long tour of India, Burma and Ceylon in quest of folk-songs.

Where modern means of transport were absent, he journeyed on foot or occasionally by bullock-cart.

He was away for two years. At Shantiniketan he visited Rabindranath Tagore.

An Urdu translation of *Gitanjali* had been a source of great inspiration to Devendra Satyarthi in his college days and this meeting with the poet gave him fresh zest for his mission.

When he returned home after his wanderings, his parents got him married in the hope that his new responsibilites would discourage him from living like a gypsy.

But in 1931, both Devendra Satyarthi and his wife set out on another journey.

All about this time, he began writing articles in Hindi, Urdu and Punjabi.

Some of the folk poetry he had collected appeared in *Asia* magazine in New York in 1936, and with the money this brought him, he published his first book, *Gidda*.

After his first meeting with Gandhiji, Devendra Satyarthi

wrote his famous article, *The Congress Goes to a Village*, and in 1940 began writing short stories in Urdu.

In 1948 he joined the Publications Division of the Government of India and worked as editor of the Hindi *Ajkal* till 1958.

A prolific writer in three languages, Devendra Satyarthi has written seven novels and has published several collections of short stories and of folk poetry.

His anthology, *Meet My People*, is the result of twenty years of travel through the length and breadth of the country in search of folk-songs.

Devendra Satyarthi lives in Delhi. His latest work of fiction and an autobiography are under publication.[1]

●

बनारसीदास चतुर्वेदी

शत-शत प्रणाम

'आजकल' की फाइल मंगवाकर उसके एक अंक में प्रकाशित सत्यार्थीजी की कहानी 'जन्म भूमि' कई बार पढ़ी और उनके कलाकार-रूप को दण्डवत प्रणाम किया।

मैं इसे कहानी की बजाय एक रेखाचित्र मानता हूँ, इसके लिए उन्हें शत-शत प्रणाम।[२]

1. Imprint, October 1967.
२. रेखाचित्र की भूमिका से।

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

MEENAKSHI PURI

THE ANCIENT MARINER

One of the fiercest critics to change the pattern of the supplement is Devendra Satyarthi. His reaction this month should be interesting. For this, is a Satyarthi issue.

Our reason for choosing Satyarthi is, however, not merely to gauge his reaction. We chose Satyarthi because we find in his writing a rare degree of detachment between narrator and naration. We do get vivid, bewildering glimpses of the narrator, though. In these glimpses Satyarthi the eccentric is dazed by the surrounding chaos. This interplay of individual and collective madness, we think, is something novel in modern Indian writing.

Our author of the month stresses more than often that he is dissatified with his work. This claim need not be taken seriously, really. For, it is with the persistence of the Ancient Mariner and a modern insurance agent that Satyarthi attacks the wedding-guest(s). He reads out each line, that he has written. And, he is a prolific writer.

In "the Tenth Head of the Demon King' Devendra has attempted a self-portrait. A rather pleasing sketch. But then, who can help admiring himself ?[1]

1. 'Thought', September 6, 1969.

गिरिजा कुमार माथुर

रंगीनी के यथार्थवाही

'बाजत आवे ढोल' लोकगीतों की पृष्ठभूमि पर लिखे गये सत्यार्थीजी के विभिन्न अध्ययनों का संग्रह है। सत्यार्थीजी अन्त तक लोकगीतों पर बहुत-सी पुस्तकें लिख चुके, जिनमें से मेरे विचार में 'बेला फूले आधी रात' उनका सुगठित और विस्तृत अध्ययन है। उस संग्रह में लेखक ने अधिक गहराई से लोकवार्ता की पृष्ठभूमि का कितने ही स्थलों पर विवेचन किया और विभिन्न प्रदेशों के जनपदों के गीतों तथा उनके सामाजिक तत्त्वों को प्रस्तुत किया है।

सत्यार्थीजी का दृष्टिकोण मुख्यतया सौन्दर्यमूलक है और जनजीवन को उन्होंने इसी वर्णमय, स्निग्ध दृष्टि से देखा है, किन्तु इसके साथ ही स्थान-स्थान पर उनकी दृष्टि ने अन्य पक्षों को भी छुआ है।

उनके लेखन की विशेषता यह है कि वे लोकगीत प्रस्तुत करते समय जिस वातावरण में उन्होंने उसे देखा-सुना था और जिस प्रकार की प्रतिक्रिया हुई थी, उस अनुभव, अहसास या प्रभाव का रंजित पट लोकगीत के आसपास बुनकर उसे प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार उनके अधिकांश प्रस्तुतिकरण प्रभाव-अध्ययन होते हैं। इसीलिए इनमें उनका व्यक्ति-स्पर्श (पर्सनल टच) कहीं खोने नहीं पाता, और स्थान-स्थान पर ऐसा लगता है कि कोई सहृदय व्यक्ति रंगीन शब्दों में अपनी यात्रा की कथा सुना रहा है, जिसके विराम लोकगीतों के हैं, और जिनके प्रभावों की वह साथ ही विवेचना करता चलता है।

अनातोले फ्रांस ने एक जगह लिखा है कि किसान जब अपनी कोई प्रिय वस्तु दूसरे के हाथ में सौंपता है तो कहता है कि इसे युवा कन्या की तरह संभाल कर रखना।

ज्ञात होता है सत्यार्थीजी भी लोकगीत पर कुछ इसी तरह मुग्ध होकर उसे देखते-परखते हैं जैसे उसकी गायिका पर। इसीलिए ग्राम की यह रूप-छटा चाहे वह प्राकृतिक हो या मानवी उनके अध्ययनों में सर्वत्र दिखाई देती है। उनके

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

प्रभाव व्यक्त करने के लिये वे गांव के ताजे रंगीन उपमान भी ढूंढ़ निकालते हैं।

"जैसे कोई कुलवधू स्नान के पश्चात् नये वस्त्र पहन कर मेले में जाने के लिए तैयार हो जाय, लोकगीत के सरल शब्दों पर कुछ ऐसा ही रूप निखरता है— बस उन्हें जरा संगीत का स्पर्श चाहिए...

"रात्रि के शान्त वातावरण में 'माहिया' हवा की लहरों पर यों तैरता है जैसे कमल का फूल पानी की लहरों पर तैरता चला जाय..."

—*पंजाबी लोकगीतों में संगीत तत्त्व*

"किस प्रकार झूमर नाचा जाता है, गोल दायरे में, इसका कुछ अन्दाजा सहज ही लगाया जा सकता है।

"और जब गोरी का लहंगा भी उड़ेगा तो धरती की आशाएं उमंगें उड़ेंगी, क्योंकि गोरी का लहंगा धरती ने बनाया है।"

—*लोक नृत्य की पृष्ठभूमि*

कितने ही ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं।

पुस्तक के पहले ही लेख में, जिस पर पुस्तक का नामकरण हुआ है, सत्यार्थीजी ने ढोल को जन-जीवन के उल्लास और संघर्ष का प्रतीक माना है। यह लेख इस संग्रह की विविधता का भी प्रतीक है। इसमें भोजपुरी, मैथिली, निमाड़ी, अवधी, ब्रजभाषा, राजस्थानी, बंगला, कूर्मांचली और उड़िया से लेकर सेन्थाला, उरांव, मण्डा, खड़िया, बैगा, सावरा और गोंड आदि आदिवासियों के लोकगीतों तथा पहेलियों का दृश्यपट प्रस्तुत हुआ है।

यही प्रभाववाद टेकनीक दूसरे लेखों में भी प्रयुक्त की गई है।

इस पर्यवेक्षण से लेखक का यात्रा अनुभव तो ज्ञात होता ही है, और विविधता भी प्राप्त होती है, किन्तु इतने शीघ्र बदलने वाले दृश्यपट और उसके परिवर्तित वस्तु-तत्त्व से मन को पूरा सन्तोष नहीं होता।

यहां सिद्धान्त रूप से एक बात कहना आवश्यक है।

क्या ही अच्छा हो कि एक स्थान पर एक जनपद के एक प्रकार के गीतों की ही विस्तारपूर्वक विवेचना हो। मतलब यह कि एक जाति, जनपद या समाज के लोकगीत, लोकवार्त्ता के अनेक पक्षों का व्यवस्थित एक रूप से अध्ययन और भी अधिक श्रेयस्कर होगा। एक जाति या जनपद में ही इतनी सामग्री हो सकती है कि उसका अध्ययन करके कितने ही पुस्तक-खण्ड लिखे और प्रकाशित किये जा सकते हैं। इस दृष्टि से सत्यार्थीजी के सामने आगामी कार्य कठिन और परिश्रम का अवश्य है।

किन्तु यह बात भी क्या कम है कि 'बाजत आवे ढोल' संग्रहीकरण से अधिक इतर भाषा-भाषी प्रान्त और जनपद के लोकगीतों को एक भावमयी

पीठिका के साथ हमारे समक्ष रखती है, और इस अभाव की पूर्ति में एक चरण आगे बढ़ाती है।

और यह भी ध्यान देने योग्य है कि सौन्दर्यमूलक दृष्टि होते हुए भी उनमें जीवन के प्रति मोह, श्रद्धा और आस्था है, उसके रस और आनन्द के प्रति स्वस्थ आकर्षण है, लेखक में रंगीनी के साथ एक स्पष्ट यथार्थवादिता है, और लोक जीवन की एक सहृय-दृष्टि है, जिन तत्त्वों के साथ नयी समाज-चेतना को सम्मिलित कर वे निश्चय ही अधिकाधिक अग्रसर हो सकते हैं।[1]

साहिर लुध्यानवी

दार्शनिक, त्यागी और कवि

रंग-मंच पर, खड़ा वह आम इन्सानों से ऊंचा नज़र आ रहा था। उसकी शख्सियत में एक दार्शनिक, एक त्यागी और एक कवि के व्यक्तित्व का संगम प्रतीत हो रहा था।

वह अपनी कविता में हिन्दुस्तान में अलग-अलग प्रदेशों का बखान इतनी कुशलता से कर रहा था कि स्रोता अपने आपको उन प्रदेशों में साँस लेते महसूस कर रहे थे।

एक के बाद दूसरे प्रदेश की जनता अपनी विशेष संस्कृति की पृष्ठभूमि में विशेष भाषा बोलती हुई उनकी आँखों के सम्मुख उभरती और फिर क्षितिज में विलीन हो जाती।

वह अनुभूति-पूर्ण चित्रण सत्यार्थी की अनेक वर्षों की निरन्तर साधना और सम्पूर्ण भारत की अटूट यात्रा का परिणाम था।

मैंने महसूस किया कि हिन्दुस्तान का कोई शायर, भले ही वह कितना भी बड़ा क्यों न हो, सत्यार्थी की बराबरी नहीं कर सकता।[2]

---

१. देवेन्द्र सत्यार्थी के लोक-साहित्य अध्ययन 'बाजत आवे ढोल' [१९५२] का आमुख।
२. 'कुतुब पब्लिशर्ज़' बम्बई द्वारा प्रकाशित 'अदब के नये मेमार' (१९४२) से।

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

अमृता प्रीतम

ग़म : खिला हुआ, मुस्कराता-सा

सत्यार्थी ने जिस समय लिखा था, 'पारुल मेरी बच्ची। नये चले बेरों की समकालीन। दूधी दँतिया कच्ची! बिस्कुट-सी ही भुर-भुर जाती पारुल की मुस्कान!' उसने बहुत बड़े विश्वास का प्रमाण दिया था, भले ही उस वक्त पाठकों को प्लेट में पड़े हुए बिस्कुट ही नज़र आ सकते थे, किसी बच्ची के होंठों की मुस्कान से ताल-मेल खाते नहीं हैं।

देवेन्द्र सत्यार्थी की हँसी ग़मगीन होती है, और ग़म खिला हुआ, मुस्कराता-सा। और लगता है सत्यार्थी दुनियाँ भर के लोकगीतों का चयन करते-करते स्वयं एक लोकगीत बन गया है। सत्यार्थी एक लोकगीत है—लेकिन जब कोई व्यक्ति लोकगीत बनता है—यह उसकी तक़दीर होती है—कि उस गीत को गाने वाले लोग बहुत देर बाद पैदा होते है। उस गीत के एक-एक अर्थ की परिभाषा बहुत विलम्ब से जन्म लेती है—फ्राँसीसी मूर्तिकार रोदाँ की मूर्तियों की कुरूपता की सौन्दर्यवादी परिभाषा के समान। सत्यार्थी नहीं, पर शायद इसीलिए सत्यार्थी का हास-परिहास, अज्ञात-वास की चर्चा करता प्रतीत होता है।

सत्यार्थी अपनी एक कविता दोहरा रहा था—'चाहे मेरी पत्नी की नाक। कुछ-कुछ बेडौल। झाँकें उसके गले से। मुट्ठी-भर हड्डियाँ। बाकी का मुँह-माथा सारा। मुश्किल से बस गुजारा!...'

सत्यार्थी को कुछ याद आ गया—"आपने तो अमृता जी, उस रोज़ मेरे साठवीं वर्षगाँठ पर मेरा कन्धा झकझोर दिया था, मेरी पत्नी मुझसे पूछ रही थी कि अमृता ने तुम्हारा कंधा क्यों झकझोरा था...?"

हंसी आ गयी, इसलिए कहा—"क्योंकि उस दिन के बाद आपने रुठिया जाना था, सत्यार्थी जी!"

"उस दिन आपने कविता सुनायी थी—केवल कविताएँ जो सिगरेट से राख के समान झाड़ डालीं! और मैंने अपनी पत्नी को उत्तर दिया था कि अमृता ने मेरा कन्धा नही झकझोरा था, सिगरेट की राख झाड़ डाली थी। कहो

न, क्या मुझे ऐशट्रे बनने का भी अधिकार नहीं !"

सत्यार्थी को कलाकार होने का गौरव प्राप्त हो चुका है—विनम्रता की सीमा तक पहुँचा हुआ। बहुत लोग अभिमान की सीमा पर आकर रुक जाते हैं, जिस से अगला कदम उठाने का साहस नहीं होता। लेकिन वे यह नहीं जानते कि अभिमान की सीमा पर खड़े-खड़े उनका हुस्न या तो स्टेंगनैन्ट होने के रूप में ज़ाहिर होता है, अथवा हिपोक्रेट होने की शक्ल में। और हिपोक्रेसी बहुतों के लिए एक ही स्थान पर खड़े होने और, बासी होने का, एक मात्र कम्पनसेशन है।

"सत्यार्थी इज़ रियली ग्रेट··" कमरे की हवा के साथ सब सहमत थे।

वातावरण में एक सहज अवस्था-सी गयी थी।[1]

प्रकाश पण्डित

थैला, कैमरा और दाढ़ी

कहा जाता है, प्रसिद्ध हास्य अभिनेता चार्ली चेप्लिन को संसार के किसी भी कोने से पत्र भेजना हो और उनका पता मालूम न हो तो लिफाफे पर उनकी ढीलीढाली पतलून, छड़ी और टोपी का स्केच बना देना काफी होता है इसी प्रकार यदि आप एक अदद भारी-भरकम चमड़े के थैले, एक कैमरे और छाती पर लहराती हुई खिचड़ी दाढ़ी का स्केच किसी लिफाफे पर बना दें तो वह पत्र अवश्य अपने गंतव्य, अर्थात् दिल्ली में देवेन्द्र सत्यार्थी के पास पहुंच जायेगा, जो उर्दू अदीबों में बैठ कर स्वयं को हिंदी का लेखक कहते हैं, हिंदी लेखकों में बैठ कर अपने 'पंजाबी लिखारी' होने का रहस्योद्घाटन करते हैं, और पंजाबी लिखारियों से मिलते हैं तो छूटते ही अपने अंग्रेजी का राइटर होने की घोषणा कर देते हैं।

---

१. 'नागमणि', अक्तूबर १९६९ : 'ब्लैस दि कप' [मूल पंजाबी से हिन्दी रूपान्तर]

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

देवेन्द्र सत्यार्थी को किसी जमाने में लोकगीत एकत्र करने के अलावा बिना टिकट सफर करने और अपनी पत्नी को किसी भी शहर के किसी भी चौराहे पर असहाय अवस्था में छोड़ भागने की आदत थी।

इससे किसी दूसरे का कुछ बिगड़ता नहीं था, लेकिन जब उन्होंने अदीबों, शायरों, लेखकों और कवियों को पकड़-पकड़ कर अपनी कहानियां, लेख, कविताएं, बल्कि पूरे-के-पूरे उपन्यास एक ही निशस्त में सुनाने की आदत पाल ली, तो मामला बड़ा गंभीर हो गया।

होता यह था (किसी-न-किसी रूप में अब भी होता है) कि वह सुबह-सवेरे, मुंह-अंधेरे किसी भी किस्मत के मारे लेखक के यहां पहुंच जाते थे और सुबह की उस वेला से लेकर रात के दस-ग्यारह या बारह बजे तक अपनी नूरानी दाढ़ी पर हाथ फेर-फेर कर उसे अपनी कहानियां, लेख, नाटक या उपन्यास सुनाये चले जाते थे और जाने से पहले पैदल घर जाने या फिर घर ही न जाने की धमकी दे कर रिक्शा या तांगे का किराया भी वसूल कर लेते थे।

लेखक लोग जब आजिज़ आ गये और उनकी पत्नियों ने सत्यार्थी के लिए अपने घरों के दरवाजे बन्द कर दिये, तो 'सुनास' के इस रोगी की जान पर आ बनी और लेखकों कवियों को छोड़ कर इन्होंने हर ऐरे-गैरे, यहां तक की नत्थू खैरे को भी अपनी कहानियां सुनाना शुरू कर दिया।

पिछले दिनों सुनने में आया कि कनॉट प्लेस में उन्होंने एक तांगे वाले से कहा—क्यों मियां, करोल बाग तक जाने का क्या लोगे?

—सवा रुपया, महात्मा जी! तांगे वाले ने उनकी लंबी दाढ़ी के कारण उन्हें कोई साधु-संत समझते हुए उत्तर दिया।

—हम तुम्हें डेढ़ रुपया देंगे, लेकिन इसके साथ एक शर्त है।

—कैसी शर्त, महात्मा जी?

—तुम्हें रास्ते में हमारी एक कहानी सुननी पड़ेगी।

—मुझे तो कोई ऐतराज नहीं महात्मा जी, तांगे वाले ने हाथ जोड़ कर कहा—आप जरा मेरे घोड़े को राजी कर लें।

यह १९४४ की और लाहौर की घटना है।

सत्यार्थी की कहानियां सुन-सुन कर जब लोग-बाग अत्यधिक बोर हो गये और सत्यार्थी तो सत्यार्थी, उनके साये से भी बचने की तरकीबें सोचने लगे, तो उर्दू के प्रसिद्ध व्यंग्य-लेखक कन्हैयालाल कपूर के दिमाग में एक तरकीब आ गयी।

कपूर भी संत नगर में रहते थे और सत्यार्थी भी। और सत्यार्थी उन्हें कहानी का प्लॉट सुझाने के लिए भी अकसर कहा करते थे।

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

नियमानुसार एक दिन जब सत्यार्थी कहानी सुनाने पहुंचे, तो कपूर साहब ने बड़ी गंभीरता से कहा—आपकी यह कहानी मैं बाद में सुनूंगा। रात मुझे एक कहानी का बहुत शानदार प्लॉट सूझा है और मैं चाहता हूं कि आप फौरन उस पर कहानी लिख डालें और अगले हफ्ते 'हल्काए-अरबाबे जौक' में वह कहानी सुना कर दाद हासिल करें।

और कपूर साहब ने उन्हें चेखोव की एक प्रसिद्ध कहानी का प्लॉट सुना दिया।

सत्यार्थी प्लॉट सुन कर फड़क उठे और इसके साथ ही अपनी कहानी सुनाये बिना उठ गये।

उधर कपूर साहब ने यह किस्सा हंसराज रहबर, गोपाल मित्तल, बलवन्त सिंह और मुझ को सुना कर यह राय दी कि आप लोग चेखोव की वह कहानी एक बार पुनः पढ़ लें और जब सत्यार्थी इस प्लॉट की कहानी सुनाने और नियमानुसार 'कट ऐनी लाइन यू लाइक-ऐड ऐनी लाइन यू लाइक' कहने आपके पास आयें तो आप लोग कहानी को काट-जोड़ कर उसे बिल्कुल चेखोव की कहानी का अनुवाद बना दें।

और सत्यार्थी की वह कहानी सचमुच बिल्कुल चेखोव की कहानी का अनुवाद बन गयी।

और अगले हफ्ते जब देवेन्द्र सत्यार्थी ने चहक-चहक कर वह कहानी 'हल्काए-अरबाबे ज़ौक' में पढ़ी और यार लोगों ने उस कहानी के साथ-साथ उनके थैले, कैमरे और दाढ़ी के अलावा लम्बे कोट के भी बखिये उधेड़ दिये। उस शाम सत्यार्थी ने सबसे पहला काम यह किया कि हंसराज रहबर के घर जा कर वे दो रुपये लौटा दिये जो उन्होंने तीन महीने पहले बतौर कर्ज लिये थे और कहा कि तुम कम्युनिस्ट हो कर इतने कमीने हो सकते हो, यह मुझे मालूम नहीं था।

सांप, भूत और सत्यार्थी की बात चल निकले तो फिर मुश्किल से ही खत्म होती है।

सआदत हसन मन्टो ने, जो सत्यार्थी को 'फ्रॉड' के नाम से पुकारा करते थे, एक कहानी लिखी थी 'तरक्की-पसंद'।

कहानी के पात्रों के नाम तो फ़र्ज़ी थे। लेकिन वास्तव में वे पात्र थे—देवेन्द्र सत्यार्थी, राजेंद्रसिंह बेदी और उनकी नयी ब्याहता पत्नी।

सत्यार्थी राजेंद्रसिंह बेदी के दफ्तर से लौटते ही उन्हें पकड़ कर इतनी रात तक अपनी नयी-पुरानी कहानियां सुनाते रहते हैं कि जब बेदी सोने के लिए अपने कमरे में जाते है तो उनकी नयी ब्याहता पत्नी ख़र्राटे ले रही होती है।

यह किस्सा या कजिया हफ्तों चलता रहता है।

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

तंग आ कर एक दिन-पति-पत्नी यह प्रोग्राम बनाते हैं कि वेदी शाम को आफिस से घर आने की बजाय सिनेमा का दूसरा शो देखकर एक-डेढ़ बजे लौटेंगे और बहुत ही धीरे से दरवाजा खटखटायेंगे सत्यार्थी चूंकि उस समय तक सो चुके होंगे, इसलिए उनकी नयी पत्नी चुपके से दरवाजा खोल देगी और…

और जब बेदी ने इधर-उधर मारे-मारे फिरने और एक बेहद बोर फिल्म देखने के बाद काफी रात गये धीरे से दरवाजा खटखटाया, तो निर्धारित प्रोग्राम के अनुसार बहुत ही धीरे से दरवाजा खोल दिया गया।

बेदी बड़े प्रसन्न हुए और उस प्रसन्नता में अपनी नयी ब्याहता पत्नी से लिपटने ही वाले थे कि उनका हाथ पत्नी के चेहरे पर उगी हुई यह लम्बी दाढ़ी पर जा पड़ा और इसके साथ ही बिजली जल उठी और दाढ़ीधारी देवेन्द्र सत्यार्थी ने बेदी की बांह पकड़कर अपने पास बिठाते हुए उनकी पत्नी के-से कोमल स्वर में कहा—मैं कब से तुम्हारा इन्तजार कर रहा हूं, बेदी ! लो, नयी कहानी सुनो। अभी-अभी पूरी की है।

और उन्होंने अपने थैले में से कहानी का पुलिंदा निकाल लिया।[1]

वेश

एक बार सत्यार्थी देर से घर पहुंचे। खाने में उन्हें दही बहुत रुचिकर लगता था। उनकी पत्नी ने उन्हें एक कटोरा और एक चवन्नी देते हुए कहा कि वे हलवाई से दही ले आयें।

दिन भर के थके सत्यार्थी हलवाई की दुकान पर भीड़ होने के कारण एक बिजली के खम्बे से टिककर खड़े हो गए और उन्हें झपकी सी आ गई। जब झपकी टूटी तो उन्होंने देखा कि उनके कटोरे में लोग और भी रेजगारी डाल गए हैं।

१. 'सारिका', अगस्त, १९७३

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

इक़बाल उमर

जनाबे-शैख़ का नक़्शे-क़दम

देवेन्द्र सत्यार्थी को मैंने पहली बार लखनऊ में बन्ने भाई (सज्जाद ज़हीर) के मकान पर एक जलसे में देखा था। यूं तो इस जलसे में नौजवानों के अलावा बुज़ुर्गों की तादाद भी कुछ कम नहीं थी, मगर उनकी जैसी डाढ़ी किसकी हो सकती थी। मैं उनकी तस्वीरें रिसालों में देख चुका था। हसन शहीर मेरे पास बैठे थे। उन्हें कुछ पहचानते हुए मैंने हसन शहीर से पूछा कि ये तो सत्यार्थी जी मालूम होते हैं तो उन्होंने बताया कि हाँ ये सत्यार्थी जी हैं, आजकल आए हुए हैं। मेरा ख्याल था कि इस जलसे के बाद मुलाक़ात होगी। मगर जल्से के बाद हम दोनों अलग-अलग टोलियों में ऐसे मशग़ूल हुए कि मुलाक़ात न हो सकी। लेकिन दो एक रोज़ बाद रामलाल के साथ टहलते हुए नज़र आ गए। फिर भी मुलाक़ात रस्मी तारफ़ से आगे न बढ़ी।

दिल्ली आने के बाद जब उनसे मिला तो उनके ज़ेहन में लखनऊ और ख़ास तौर से बन्ने भाई के मकान पर होने वाले उस जल्से की याद को लाहौर की यादों की तरह ताज़ा पाया।

आज़ादी से कोई दो साल पहले सत्यार्थी जी लाहौर से दिल्ली आ गए थे और उनका कहना है कि उन्होंने लाहौर इस तरह छोड़ा जैसे लड़कियाँ अपना मायका छोड़ती हैं :

हमने इस अन्दाज़ से ऐ दोस्त छोड़ा अपना घर,
सब ये समझे आमदे-गुल की ख़बर लाने गए।

हम दोनों के ताल्लुक़ात की वजह शायद ये भी है कि हम दोनों के लिए दिल्ली शहर अब तक परदेश जैसा ही है। असली दिल्ली वाले कहाँ हैं। किस आलम में हैं और हमारे बारे में क्या सोचते हैं, हमें इससे कोई मतलब नहीं। सत्यार्थी जी को वैसे भी अपनी रचना के सिवा किसी से कोई सरोकार नहीं। वे दोस्तों से भी इसीलिए मिलते हैं कि वे उनकी रचना के किरदार हैं। बुरे लोगों में अच्छाई तलाश करना और अच्छे लोगों में बुराई तलाश करना और

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

इसका इजहार उनका महबूब मशग़ला है। बाज़ लोग उनकी इस आदत से नाख़ुश हो जाते हैं (जिन्हें ये ख़ुद मना भी लेते हैं) और बाज़ ये सोचते रह जाते हैं कि उनकी ये बुरी आदत कैसे पड़ी। हमारे दोस्तों में बानी का यह ख़्याल है कि जब ये लोकगीत की तलाश में गाँव-गाँव घूम रहे थे तो अपने काम को आसान बनाने के लिए ये जिस गाँव में जाते उसकी तारीफ़ और उसके गीतों की तारीफ़ शुरू कर देते और जिस गाँव से आ रहे होते उसकी बुराइयाँ—इस तरह उनकी आवभगत भी खूब होती और अपने काम में आसानी भी होती।

कुछ लोग ये बताते हैं कि 'आजकल' के एडीटर होने की वजह से ये आदत पड़ी और कुछ लोग कहते हैं कि ये ऐब तो हर कहानीकार में होता है—मगर ऐसा नहीं होता।

बहरहाल मैंने उन्हें हरदोस्त और हरनुक़्तए-नज़र की मुख़ालफ़त में बोलते हुए ख़ूब सुना है।

कुछ लोग मुझ से नाराज़ भी हैं कि मैं उनकी बातें इतने ध्यान से क्यों सुनता हूँ। और कुछ लोगों ने मुझ से मिलना तर्क कर दिया है कि मेरे साथ ये ज़रूर होंगे और ये होंगे तो इनकी रचना भी ज़रूर होगी, जिसे पढ़ना, सुनना और राय देना हर शख़्स के बस की बात नहीं। लेकिन ऐसे लोगों की भी कमी नहीं, जो इन्हें घर बुलाते हैं, ख़ातिर-तवाज़ा करते हैं और ये नहीं जाते।

इतनी उम्र गुज़ार चुकने के बाद भी शायद उनकी धर्मपत्नी उन पर भरोसा नहीं करतीं। एक दिन की बात है कि मेरे एक शनासा ने एक गजरा मुझे दिया और मैं इसे लिये हुए सोच ही रहा था कि इस गजरे का क्या किया जाये। सत्यार्थी जी आ गये और मैंने वह गजरा उन्हें दे दिया और यह ताकीद की कि यह गजरा अपनी धर्मपत्नी को दें। दूसरे दिन जब मिले और मैंने पूछा कि वह गजरा आपने अपनी धर्मपत्नी को दिया या नहीं तो कहने लगे कि मैं तो घर जाकर भूल ही गया था। वह गजरा मेरी जेब में ही रह गया। लेकिन सवेरे जब उन्होंने यह गजरा मेरी जेब में पाया तो बस क्या कहूँ कि क्या हुआ। अभी तक उनकी धर्मपत्नी को यह बताने का मौका नहीं मिला कि ये गजरा किसी और ने नहीं मैंने ही दिया था।

हम लोग हर रोज़ शाम होने से पहले ही मिल जाते हैं। हमारी महफ़िलें सत्यार्थी जी के बग़ैर सूनी सी होती हैं। उनके आते ही बातों की बरसात शुरू हो जाती है। ये महफ़िल में कुछ ख़ास लोगों को छोड़कर किसी को बोलने का मौका मुश्किल ही से देते हैं। चाहे वो शख़्स अजनबी ही क्यों न हो। चाहे पहले ही से किसी मौज़ूह पर संजीदगी से बात हो रही हो, ये आते ही चाहेंगे कि मौज़ू बदल जाए। और अगर हाज़िरीन इस पर भी आमाद न हों तो पास बैठे हुए शख़्स से किसी और मौज़ूह पर गुफ़्तगू छेड़ देते हैं। और अगर वो भी इन

की बातों में न आया तो फिर मेज़ को जीतने के लिए पूरा ज़ोर लगा देते हैं चाहे इन्हें किसी को नाराज़ ही क्यों न करना पड़े। महफ़िल पर छाए रहने की ऐसी शदीद ख़ाहिश मैंने किसी और में नहीं देखी। मैं तो इसे भी ज़िन्दगी की इलामत समझता हूँ और चाहता हूँ कि वे अपने पूरे जाहो-जलाल के साथ हज़ारों साल तक जिन्दा रहें और अदब की ख़िदमत करते रहें और हम हमेशा यही कहते रहें :

जनावे शेख़ का नक़्शे-क़दम यूँ भी है और यूँ भी !

अनवार रिज़वी

तिफ़ले-मक़तब

सत्यार्थी की कहानी कोई सीधी सड़क नहीं है, जिस पर पढ़ने वाला आराम के साथ फिसलता चला जाय। वह एक टेढ़ी-मेढ़ी बल खाती पहाड़ी पग-डण्डी है, जिस पर सँभल-सँभल कर बढ़ना पड़ता है। उनकी कहानी में हज़ारों बातें होती हैं। मगर उस में कोई बात भी ऐसी नहीं होती, जो रनादारी में लिखी गयी हो। हर बात बेहद ग़ौर-ख़ौज़ और रद्दो-क़बूल के बाद उनकी कहानी में बार पाती है।

अगर किसी बात के बारे में उनको शुबा हो गया है तो फिर उसकी तसदीक़ में ज़मीनो-आसमान एक कर देंगे। कोई लफ़्ज़, कोई तलफ़्फ़ुज़, कोई नाम या कोई वाकिया, कुछ भी हो, खोज कर के बिलकुल सही रूप सामने लायेंगे।

एक कहानी में उन्हें गुलदुम की इलामत इस्तेमाल करना थी। मैं जानता हूँ, इसके लिए उन्हों ने कितनी कदो-कावेश की। जामा मस्जिद के बाज़ार गये। चिड़ीमारों से राबता कायम किया और गुलदुम के बारे में पूरी मालूमात मुहैया कर के लाये। और जिस वक़्त वो मालूमात हासिल कर रहे हों तो देखिये, बताने वाले के आगे तिफ़ले-मक़तब बन जाते हैं।

K.K. KHULLER

COFFEE HOUSE CULTURE

The Greek sophists and the Roman orators used to meet in the courts and camps of their masters. The medieval saints and Sufis met in the church, vihara or a durgah. The venue of the modern intellectuals has shifted to the coffee house—the home of the homeless thinkers, the drawing-room of the pen-pushers and the painters, the former revealing and the latter concealing every concern for their calling. A modern coffee house performs not only a social function but is also a symbol of functional socialism. Many of these chaps over here live alone and like it, but most of them live alone and look it. They are like manuscript submitted in haste and returned at leisure.

Here's a poet who can suffer anything but a mis-print, a painter who has waited more for the DTC bus than for the golden dawn he has been painting for quarter of a century, a clerk who has not laughed in his office for the whole year only to earn an outstanding confidential report, a university reader who read so much about the bad effects of smoking that he gave up reading, a social reformer who has taken a weekly off from clearing slums and organising street sweepers, and here are literally two bald men fighting for a comb. And there are other gray-haired fellows on the adjoining table who seem to have acquired gray hair from worrying about getting gray hair.

Montesquieu, the French political philosopher, himself a coffe-house addict, wrote of 18th century coffee-house of Paris thus :

"Coffee is very much used in Paris. Here are a good many houses where it may be had. In some they (coffee-house regulars) meet to gossip, in others to play at chess. There is one where the coffee is prepared in such a way that it makes those who drink it witty : at least there is not a single one who, on quitting the house, does not believe him-

self four times wittier than when he entered it. But what shocks me most in these geniuses is, that they are quite useless to their country, and amuse their talents with puerilities. For example when I arrived at Paris, I found them warm over dispute on the most trifling matter imaginable. It was all about an old Greek poet whose birthplace and the time of dying no one has known for 2,000 years."

The tables in the coffee house are arranged and occupied according to the various styles and sub-cultures in vogue. Here's a political table where nothing else than the last refuge of the scoundrel is discussed ; a culture table where only culturewallis are being talked about or scandalised ; a vegetarian table being served only by vegetarian bearers discussing diseases caused by non-vegetarianism ; ladystenographers' table pledging during the International Year (now decade) not to be dictated by men; the writers' table where the same joke is being repeated the nth time. They are the second story men and women for whom contempt for happiness is contempt only for other people's happiness and who define juvenile delinquency as other people's children.

Then we have the table of lecturers using maximum words with minimum sense sitting two on a chair. Before I come to the table of taxi-drivers and theatre wallahs I shall briefly mention, in passing, a unique table of middle aged persons who are neither personages nor have they any personality. A middle-aged man is never liked by any one—not even by middle-aged woman. The young frown at him for he tells them not to make mistakes, the old shun his presence for opposite reasons. His wife is more interested in his insurance than his pay. Two middle aged men always leave each other unhappy. Socially dull and economically dismal these paragons of routine are a great hazard in the country's progress. And yet they are the greatest patriots who are trying their best to bring organised chaos out of regimented confusion.

And here's Gurudev,[1] the leader of the older generation. The sight of Gurudev brings to vision the memory of a man holding a rope in his hand standing in his pasture mumbling : "I do not know whether I have lost a horse or found a rope." Gurudev is

1. Devendra Satyarthi.

not one man, he is a series of men. A congential writer he mixes well with journalists, newspaper reporters, book-reviewers, radio-men and indeed women. These people and other vulnerable sections of society have undertaken to keep Gurudev-alive. The result is that he is deadly alive. If you take the bet of speaking three words to him, you will lose. His stories are endless and yet many of them have no ending. In fact a number of them have neither any beginning. As such they stay in the middle. He can tell a story to anybody from the CBI inspector to his bearer who once gave him a tip to go home since the time was up.

He has seen all the coffee-houses of Delhi. He would tell you that there existed at least three dozens coffee-houses in Delhi's Chandni Chowk in the days of Mohammed Shah Rangeela, that Dara Shikoh's head was displayed in front of a coffee-house, that Abadall and Metcalfe both in their turn sipped coffee at the one situated near Kashmere Gate. These coffee-houses continued to serve the needs and requirements of the people of the 18th and early 19th centuries till they were replaced by the new shopping centre mostly of textiles after the great rebellion. Gurudev is not a very well-read man but he mixes with well-read people. According to him the best way to read a book is to read a book-review of a man who himself has not read it. In short he is a mobile Shantiniketan with all the appearances of the original Gurudev[1] who will never make you feel inferior without your consent.

So you have people and peoples in the coffee-house condemned by their own culture, caressed by their own conscience and freed by their own fetters. You have time-killers who sit there like vegetation on a frozen sub-soil or like fungus of a flower, salesmen who would sell refrigerators at South Pole. Lastly you have the woman selling the evening paper till late into the night. Sitting on the edge of the coffee house in Connaught Place she is like a black button on a grey flannel suit while the discussion at the professors' table continues whether the fruit which brought trouble in the Garden of Eden was an apple or a green pear.[2]

1. Rabindranath Tagore.
2. Morning Echo (New Delhi), March 26, 1976.

UMA VASUDEV

THE 70-YEARS ITCH

One rolling stone that appears to have gathered an abundance of moss is hirsute Devendra Satyarthi, fiddle-footed poet and author who has, in the course of his nomadic pursuits, succeded in amassing an incredible collection of 2½ lakh folk songs from all over India.

"I have travelled all over the country, mostly on foot, sometimes without tickets on trains because I am always broke. Money means nothing to me, but I have managed to survive because I look like a sadhu" he stated.

A drop-out from college—"the world is my university"—Devendra has so far published over 75 books, mostly translations of folk songs with the occasional work of fiction thrown in for variety.

"Some people call me a poet, others call me a folk song collector, but my wife calls me a vagabond and a gypsy.

"As usual she is right," he confessed, his dentures gleaming through his beard.

Devendra's long suffering wife must evidently have a lot more to say on the subject, "She once gave me four annas and sent me out to buy milk and I came back after four months without the milk, but with 4,000 folk songs in my pocket" he recalled.

Devendra's house now has a milk booth right opposite, but needless to say, he has never been asked to go out and buy milk again.[1]

1. India Today (New Delhi) May 31, 1976.

निर्मल अर्पण

युद्धिष्ठिर की आवाज़ कौनसी है ?

सड़क पर आकर हमने टैक्सी ली। अब सत्यार्थी पिछली सीट पर बैठा था। उसके दायें मैं और बायें मोहनजीत। अगली सीट पर हरिनाम।

टैक्सी बेआवाज़ चल रही थी।

सत्यार्थी ने हरिनाम के कन्धे पर हाथ रखकर अपने हिन्दी उपन्यास 'शहर में डूबता समन्दर' के नायक के लहजे में कहना शुरू कर दिया :

"सिरकटा घुड़सवार हंस रहा है ! कटे हुए सिर पुकारते हैं—हमें उठा लो ! हमें उठा लो !

"समन्दर और रेगिस्तान के वीच बस एक सुरंग की दूरी है !

"हम तो नींबू-निचोड़ हैं। आमलेट मंगवाओ ! आंखें बन्द कर लो। यह मत कहो बिन बुत-शिकनी बुत तराशी से छोटी बात है !

"आसमान से उतरे चार फरिश्ते। एक हाथी पर सवार, एक घोड़े पर सवार, एक गधे पर सवार और एक अपने आप पर सवार !

"दस हज़ार साल पहले की आवाज़ें पकड़ी गयीं। देखो, सोचो और ग़ौर करो। इस में युद्धिष्ठिर की आवाज़ कौन-सी है और कुत्ते की कौन सी ?

"नज़र वालो ! शहर वालो ! तुम एक हवाई अड्डा, मैं एक बन्दरगाह वह काफी का एक प्याला !

"प्याला रेगिस्तान में !

"रेगिस्तान समन्दर में !

"और समन्दर भरती हुई दिल्ली में !"[1]

---

१. अग्निरेखा (१९७६) पृ० १९-२०। पंजाबी से रूपान्तर।

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

अशोक ग्रोवर

धुन रे धुनिए अपनी धुन

सत्यार्थी जी ने साहित्य की प्रत्येक विधा में लिखा है। कविता, कहानी, उपन्यास, रेखाचित्र, यात्रा, संस्मरण और आत्मकथा। और एक से अधिक भाषाओं में लिखा है—हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, अंग्रेजी। इस धुनिये की धुन और धुनियों की तरह सीमित नहीं है।

जब मैं पहली बार सत्यार्थी जी से मिला तो मेरे अन्दाज़ में काफ़ी झिझक थी लेकिन उन्हें इतना क़रीब पाया कि उन से बार-बार मिले विना जीना ही मुश्किल हो गया। बात-बात में क़हक़हे और बात-बात में कुछ-न-कुछ नोट करते रहने की आदत। जैसे साधारण आदमी की बातों में भी कोई मर्म हो।

नवयुवकों से ही घिरे रहते हैं सत्यार्थीजी। उनकी धुन में कोई कमी नहीं। कभी व्यंग्य, कभी मज़ाक और कभी ग़म की झील में डुबकी। जाने किस-किस भाषा के शब्दों का ताल-मेल।

भारत के अतीत और वर्तमान का सूत्रधार—यह धुनिया अपनी धुन में गाती-नाचती संस्कृति को कभी एक मूर्तिकार की तरह साकार कर डालता है और कभी मंच के किसी अभिनेता की तरह अपनी छाप लगाता है। क्या बताऊं, यह बात भी मैं ने इस साहित्यकार से ही सुनी :

धुन रे धुनिए अपनी धुन
अपनी धुन का पाप न पुन

MOHAN DABRAL
VIRENDER DABRAL

CONCEPT OF FOLK LORE

'Folk Lore' is a symbol of specific regional cultural system. In fact it is an indicator of the aspirations of common man and his socio-cultural environment. Folk Lore includes three important aspects of life :—

(i) the socio and traditional faith and processes of life within a cultural-regional environment ;

(ii) the social acceptance and practices in temporal and cultural-religious-context modified and directed by geographical environment ;

(iii) the folk lore-literature composed freely by the common people as influenced by their environmental framework. The 'folk lore' represents, the true socio-cultural behaviour of any socio-group, cultural-region or even island, coast or mountain slope or country. The frame work of the 'folk lore' is determined by regional and environmental factors at various levels of systems and analysis. The interpretation of 'total cultural-social environment, is only possible after intrinsic analysis of the patterns evolving at its regional, social and geographical foundations.

Environment—Folk Lore is a dynamic aspect of any environment. It is a symbol of environmental communication. This communication is a significant factor in cultural evolution

and geographical environmental differentiation. The cultural divisions of the world, however we delimit them, have evolved through communication of ideas from father to son, among neighbours, through emigrants and traders, by songs and traditions. Thus we study cultural history, social anthropology, as we call the greater outlines of origins and dispersals of cutural ideas. With reason, too, we seek to understand the regularities of process by which a given innovation may diffuse through spatial-regional cultural fields. Thus the communication ; for communication, we reach to the core of cultural geography ; in a set of socio-geographical environment. In this process of folk lore analysis with a set of environment, geographically, we have to think through theoretical models of 'spatial perception', we mean by this model ; what given environment exposures communicate to specific human groups. The Bohemians folk-lore, the Caucasians high landers, the Gaddis of Himachal the Chhattisgarhi folk system, the Magahai Maithili folk lores, all are environmental exposures of a set human 'community' within their regional frames. Environment communicates and indeed, all communication has to reach its human target through his sensory (environmental) field. Consideration of environments-landscapes and societies in this respect again reveals communication reaching to the core of cultural-regional systems.

Regional Concept and Folk Lore—The 'folk lore' and folk literature are closely interlinked to each other, through regional frame work. The word regions, sub regions, micro-regions, all have together systems of various types of socio-cultural environments. Each unit, the sub-region, the micro-cutural-social system has its vision, dreams and behaviour which reflects in cultural and literary forms. The very intricacy of long developed landscapes thus provide us complex 'frame works' of various 'folk lore system' and thus we have 'songs' associated with them. The task of regional scientists and cultural geographers to taste as private pleasures all the involutions of living landscape and find delight in intimation of ideal order they obey. The common task, however, is to learn and teach whatever is of general significance and use about particular communities, landscapes, cultures, literature and socio-complexes. Local folks, their home and ways with due respect, must stand

for more than quirks and whims. The cultural process of learning and teaching rather than the peculiar cultural content should propose always be the major focus of the cultural and regional—social scientist. Folk lore and its conceptional territorial significance, provide us a wide 'system frame work' for learning and inspi ration. Almost all social institutions are agencies of commun ication. Their functions in communication are adjusted to the geographical-regional pattern of their territorial structure and spatio-temporal frame works. Thus such social-cultural units as nations, regions, 'folk lore' regions, the groups, tribes and even institutions like tribal family of Meghalaya, Nagaland ; the tribal zone of Congo-West-Africa or Pacific Ocean groups are equally absorbed in that function.

Thus regions and folk lore inspire 'folk songs' and the total natural and cultural environmental factors play their role. The folk lore thus includes all types of socio cultural trends of integrated behaviour with stories, songs, socio-customs, religions, rituals, idioms, metaphoric expressions and variations other types of literary long songs. Thus, from a practical point of view, it is desirable to investigate just how 'forms' and norms are related, and to learn to study the actual processes by which a landscape expresses and communicates behaviour clues. As they grow, too the pioneering present concern with 'regional spatial diffusion' and 'spatial perception' are likely to develop toward a more communication oriented conception of the subject. A revitalized and richer cultural-social investigation is in the process.

The evolution of Devendra Satyarthi's contribution to Indian folklore is a monumental study. His Meet My People will live for generations to come.

●

हिन्दुस्तान गुलाम है। अन्धकार ही अन्धकार है। अविद्या ही अविद्या है। भूख ही भूख।···समस्याएं भूत-प्रेतों की तरह मेरे कानों में चीखने लगीं। पर कवि ने संभल कर कहा लाख अन्धकार हो, अविद्या हो, गुलामी हो, गान ही सत्य है। नृत्य ही सत्य है। रंग ही गान है। गान ही रंग है। गान ही स्वतंत्रता है, उषा है···

—सत्यार्थी, **गाये जा हिन्दुस्तान**

शिवकुमार कौशिक

कृतज्ञता

सन् १९४३ की बात है ! मेरठ में एक कवि-सम्मेलन हुआ, वहीं सर्व प्रथम सत्यार्थी का साक्षात्कार हुआ। उन्होंने वहां एक क्षेत्रीय भाषा में लोक गीत वहां की "महिला" के स्वर में ही सुनाया था। श्री विशम्भर सहाय प्रेमी के आवास पर—जहां सभी कवि ठहरे हुए थे—जब मैं सवेरे-सवेरे गया, तो सत्यार्थी जी ने बिना किसी पूर्व जान पहचाने के मेरा शाल पकड़ लिया, और कहा : बैठो, बता कर जाओ।

वे क्या बताने के लिए कर रहे थे, वह मैं समझ गया, और मुस्कराते हुए बोला : अगर सत्यार्थी जी कभी बताने की नौबत आई ही तो फिर मैं आपकी मार्फत क्यों बताऊंगा।

"तो फिर खुद ही लिखो" उन्होंने कहा। मैं निश्चय ही उन दिनों 'मरा' हुआ था। क्योंकि तब तक कुछ लिखा नहीं था। लिख सकता हूं—अथवा नहीं—यह भी अपने में नहीं खोज पाया था। पर उनकी आत्मदर्शी दृष्टि ने पहचान लिया था।

कुछ ही दिनों बाद अनायास ही एक कविता कागज पर उतर आई उसे लेकर, स्थानीय अंग्रेजी साप्ताहिक 'संडे टाइम्स' में पहुंचाया,'—और 'नमस्कार' शीर्षक से लिखी गई वह कविता छपी तो खुशी का ठिकाना नहीं रहा। उसके बाद और भी कविताएं छपीं, और अब तक दो पुस्तकें—वैशाली की दत्तका पुत्री व प्रियदर्शिनी इंदिरा गांधी भी प्रकाशित हो चुकी है। जिनके रचना काल में सत्यार्थी की प्रेरणा क्रियाशील रही।

कभी-कभी मैं सोचता हूं, अगर उस दिन सत्यार्थी जी ने 'तो फिर खुद ही लिखो' न कहा होता, तो क्या मैं लेखन के क्षेत्र में आ पाता ? सत्यार्थी जी की उस पारखी निगाह के प्रति मैं किन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करूं ?

SUSHIL KUMAR JOSHI

THE ROCK-BASE OF FOLKLORE

With Satyarthi, there is a particular sympathy with the neglected ones of the world, with the sublime in spirit and with the materially poor. Both his simplicity and his humility make him at home with them. I have seen him chatting rapturously, for hours with Dr. Srivastav, my colleague, with whom pursuit of literature and higher knowledge has, for years, been an overwhelming passion but whom mammon has, perhaps, found quite unworthy of bestowing his favours upon. Satyarthi is, indeed, an engaging conversationalist.

With his face beaming with a sweet smile, one day, he showed me his still incomplete work "FATHER TIME" and invited my comments. What I found in this piece of writing will further give an insight into the character and personality of the great poet.

"FATHER TIME" is not a narrative woven round a king, or a nobleman or even a god. It portrays common man and his strength or weakness. The nature of the narration is not linear, and as such it has no beginning, middle and end. It is circular, with the end meeting the beginning, or the end as the beginning itself. Instead of developing in a logical continuity, action is, therefore, simultaneous. The time element is, thus, psychological, not chronological.

The characters the poet has woven his theme around-common men and women—reveal his disgust for fake leaders and heroes. There is no hero or heroine in the narrative to use ordinary men or women as tools for satisfying his whims or caprices. Everyday events in the world pass through the crucible of the writer's mind and leave an impact on the lines he writes. The narrative flows swiftly yet smoothly to embrace the entire panorama of life.

Though 70 years of age, it is really not an end to Satyarthi's creativity. It will be apt to say that Satyarthi's 70 years, minus his childhood, are a series of panels full of buoyancy and dynamism. This is the rock-base of his character which never lets one feel dull or bored in his presence even for a moment. Writing is in Satyarthi's blood; he has a natural bent for it.

Devendra Satyarthi's has not been the idle rambling of a week intellect aspiring for great achievements. Today he has a distinguished place in the realm of Indian literature. His work on folk-songs shows that his powers of narration are of a high order. He seems to prefer to immortalise moods, emotions, and glimpses of memory.

Satyarthi's rich and varied collection of folk-songs...projects India as a whole, a vision of India in her beauty and majesty. For a country like India fatally prone to narrow loyalties based on religion, caste, sect, region and language, this projection is perhaps Satyarthi's greatest contribution to the cause of India's unity."

In addition to his folk-songs Satyarthi has written a number of short-stories, poems and novels. Whatever he has touched, carries his mark.

He has, indeed, received more renown and recognition than a score of awards and prizes could have bestowed upon him.

This tall and lanky man with a fascinatingly flowing beard will surely continue to inspire millions of readers for generations to come.

●

UNTOLD STORY

This coat of mine
Feels ashamed to tell
That roads of Delhi with their
Ever-changing face
Conceal an untold tale
Of my forty pairs of shoes.

—*Satyarthi*

शक्तिपाल केवल

दिल की बस्ती भी शहर दिल्ली है

दिल्ली जो एक शहर था। दिल्ली जो एक शहर है। लाल किले की दीवारों और ऊंचे-ऊंचे मीनारों ने, इसके गली और बाज़ारों ने सदियों से तख्त और ताज की जंग देखी है, कई खून के दरिया पार किए हैं और शमशीर की झंकारों के बीच हर बार एक नयी तहज़ीब, एक नया ख्याल, कला का एक नया मीनार खड़ा किया है। यहां खुसरो की मुकरियों ने दिलों को भरमाया है और मीर तकी 'मीर' के शेरों ने, ग़ालिब के तीखे कलाम ने, दाग़ की मधुर कविता ने साहित्य-कला और संस्कृति की नयी शम्माएं रोशन की हैं। दिल्ली जो एक शहर था।

दिल्ली जो एक शहर है। हंगामों से भरा एक खामोश शहर दुनिया की नज़रों का केन्द्र। तख्त और ताज के संघर्ष का प्रतीक यह शहर क्या धीरे-धीरे साहित्य और कला से दूर होता जारहा है? यहां अन्य नगरों की तरह साहित्यिक वातावरण क्यों नहीं?

यहाँ भी अदबी माहौल क्यों नहीं और इसकी बुनियादी वजह क्या है? हम यहां कैसे एक सही अदबी फिज़ा पैदा कर सकते हैं! आप ही बताइये न! सत्यार्थी साहब?

उनके चेहरे पर किसी भटके लोकगीत की थकान उभरती है। "मैं नहीं मानता कि यहां बिल्कुल ही साहित्यिक वातावरण का अभाव है। वातावरण तो है, पर खंडित है। आप लाहौर और इलाहाबाद की बात करते हैं, मगर वे छोटे शहर हैं। उन छोटे शहर में तो यह भी पता चल जाता है कि किसने क्या खाया है। लेकिन यहां यह भी खबर नहीं होती कि कौन मर गया।"

"कलकत्ता?"

"लेकिन वह एक जमा हुआ शहर है। उसका अपना एक व्यक्तित्व है। बहुत साल पहले दिल्ली में आज की अपेक्षा साहित्यिक वातावरण काफी अच्छा था। तब यहां 'शनिवार समाज' की बैठकें होती थीं। उसमें जैनेन्द्र तथा अन्य

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

साहित्यकार शामिल होकर जीवन और कला के अनेक पहलुओं पर बातचीत करते थे। यहाँ एक 'पंजाबी साहित्य सभा' है। वहां नौसिखिए आ जाते हैं। वातावरण शालीन नहीं रहता। आज सच्ची साहित्य साधना है कहां ?"

एक पल के लिए सत्यार्थी जी के होंठ खामोश होते हैं। फिर अपने ही सवाल की कोख से जवाब उभरता है—"यहां, इस शहर में, नारे-बाजी और ठप्पेबाजी बाक़ी रह गयी है। ये ठप्पे क्या साहित्य का सृजन करेंगे ? अब तो मुझे किसी अन्य लेखक से मिलते हुए भी घबराहट होती है। ये अपने ही अहम् में डूबे रहते है। कभी गुजरते हुए आपने मुझे रोका था—मगर आज मैं अपने को रोकता हूँ।"

"अच्छा तो सत्यार्थी साहब, अपना कोई शेर सुनाइए—

"अपना नहीं, किसी और का सुनिए।"

दिल की बस्ती भी शहर दिल्ली है।
जो भी गुजरा है उसने लूटा है।"

"आज सच्ची साहित्य-साधना है कहाँ ?" सत्यार्थी जी ने अपनी बात फिर दोहरायी और आगे बढ़ गये।[1]

●

देविन्दर—कापी राइट भारतमाता का

आल इण्डिया रेडियो के डायरेक्टर जनरल अहमदशाह बुख़ारी 'पतरस' ने कहा "सत्यार्थी साहिब इस कान्ट्रेक्ट पर दस्तख़त कर दीजिये, लोकगीतों की रायलटी आपको मिलती रहेगी।"

"मैं दस्तख़त कैसे कर सकता हूं ?" सत्यार्थी ने झट जवाब दिया।

"क्यों ? ऐसी भी क्या बात है ?"

जनाब ! लोकगीतों का कापी राइट तो भारतमाता का है। उसी से कराइये दस्तख़त।" कह कहकर सत्यार्थी खामोश हो गए।

---

१. साप्ताहिक 'युग दर्शन' [दिल्ली] : १३ दिसम्बर १९६८

ओमप्रकाश सिहल

लोक-साहित्य अजायबघर की चीज़ नहीं

उन दिनों चीन ने भारत पर हमला किया और भारत ने अपने इस चीनी भाई से जो मुँह की खाई तो उसकी प्रतिक्रिया में साहित्यकार, कहानियों, कविताओं और लेखों के माध्यम से अपने आक्रोश को व्यक्त कर रहे थे। जब मैंने सत्यार्थी जी से पूछा कि उनकी इन सामयिक रचनाओं के बारे में क्या प्रतिक्रिया है तो उनका संक्षिप्त-सा उत्तर था, "इनमें कोई कालजयी रचना तो दीखती नहीं और जो लोग इन रचनाओं के माध्यम से अपने आक्रोश को व्यक्त कर रहे हैं, उन्हें यदि युद्ध-क्षेत्र में भेज दिया जाय तो सारा आक्रोश धरा रह जायगा—इनकी तो वही हालत है जो कहवाघरों में बैठ कर क्रान्ति की पुकार करने वाले हिन्दी के साहित्यकारों की होती है जो अपने स्वार्थ साधने का मामूली-सा मौका मिलने पर क्रान्ति को ताक पर उठा कर रख देते हैं।" जब बात साहित्यिक क्रांति तक जा पहुँची तो मैं उनसे यह पूछे बिना न रह सका, "क्या आपने कभी यह सोचा है कि आज की हिन्दी कविता जहां गद्य की ओर बढ़ रही है वहां कहानी और उपन्यास धीरे-धीरे कविता की परिधि को छूते-से प्रतीत होते हैं।" सत्यार्थी जी बोले, "भाई! मैं तो कविता के गद्यात्मक होने का पक्षपाती हूं नहीं। जब तक कविता में लय न हो तब तक मैं कविता को कविता नहीं मानता।" सत्यार्थी जी के इस उत्तर से मुझे सन्तुष्टि नहीं हुई। मैंने कहा, मैं आपकी इस बात से राजी नहीं हूं कि कविता में लय होनी ही चाहिए। मेरा विचार तो यह है कि साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास जैसा वर्गीकरण होना ही नहीं चाहिए। जब लेखक कोई रचना लिखता है तो वह यह मानकर चलता है कि उसे कोई ऐसी बात कहनी है जिसे कहे बिना वह रह नहीं सकता और फिर वह जैसे भी ठीक समझता है वैसे कह देता है। कभी तो उसका यह कथ्य परम्परागत ढांचे में बँध जाता है और कभी नहीं बँधता। शायद ऐसी ही स्थितियों में नये साहित्य-रूपों का जन्म होता है।"

सत्यार्थी जी की प्रतिक्रिया थी, "तुम्हारे कथन के संदर्भ में अपनी

रचनाओं को देखूं तो तुम्हारी बात कुछ सही लगती है। मैंने कभी नहीं सोचा कि मेरी कहानियों को लेकर लोग यह कहेंगे कि वे बे-सिर-पैर की हैं पर लोग कहते हैं, और शायद इसीलिए कहते हैं क्योंकि वे कहानी के परम्परागत ढांचे से अलग पड़ती है।" और फिर सत्यार्थी जी अपनी एक रचना सुनाने बैठ गये।

मैंने सत्यार्थी जी से पूछा, "आप अपनी रचना को कितनी बार संवारते हैं ?" सत्यार्थी जी बोले, "इसका कोई बँधा-बंधाया नियम तो है नहीं, कभी तीस बार, कभी चालीस बार और कभी पचास बार तक संशोधन हो जाता है। मैं तो रचना को तब तक सँवारने में विश्वास करता हूं जब तक वह मुझे अपनी बात सम्प्रेषित करती हुई प्रतीत नहीं होती।" सत्यार्थी जी की बात मुझे पूरी तरह सही लगती थी, अखिर उनकी पाण्डुलिपि अपनी आँखों से देख कर अविश्वास कैसे किया जा सकता था।

इसके बाद तो सत्यार्थी जी से सैकड़ों बार मुलाकात होती रही। कभी वे घर आ जाते, कभी बस स्टैण्ड पर मिल जाते तो कभी सड़क पर रास्ता चलते रोक लेते। जब कभी घर आते और अपनी कोई नई कहानी सुनाने बैठ जाते तो फिर दो-ढाई घण्टे तक मुक्ति नहीं मिलती। एक दिन मैंने सत्यार्थी जी से पूछ ही लिया, "सत्यार्थी जी ! आपके बारे में लोगों की यह राय है कि जिनसे कभी भूले-भटके एक बार आपका परिचय हो जाता है उनके साथ आप जोंक की तरह चिपक जाते हैं।" सत्यार्थी जी का प्रत्युत्तर था, "लोग ठीक ही कहते होंगे, आखिर अपना अपना अनुभव है, मगर मेरे मन में यह भावना कभी नहीं रही। जिसने मेरी रचना सुनने से दो टूक मना कर दिया उसे अपनी रचना सुनाने मैं तब तक नहीं पहुंचा जब तक मेरे अन्तर्मन ने यह नहीं मान लिया कि मना करने वाला अपनी किसी व्यक्तिगत विवशता के कारण मना कर रहा है न कि अपनी साहित्यिक अभिरुचि के अभाव के कारण। आखिर मैं अपने श्रोता को स्वतंत्र प्रतिक्रिया के लिए खुली छूट देता हूं और जहां वह ठीक लगती है वहां स्वीकार भी कर लेता हूं।" यदि उसके पास समय कम होता है तो अपनी रचना के केवल महत्वपूर्ण अंश ही सुनाता हूं। यदि समय एकदम नहीं होता तो किसी दूसरे दिन का समय निश्चित कर वापस हो लेता हूँ। ऐसी स्थिति में किसी को अपनी रचना सुनने के लिए विवश करने का प्रश्न ही कहां उठता है ? मैंने कहा, "आपका कहना एकदम ठीक है, मगर फिर भी बहुत बार श्रोता आपकी रचना बेमन से सुनता है।" सत्यार्थी जी का उत्तर था, "सब लोग मेरी तरह संन्यासी तो हैं नहीं। मैं जानता हूं कि दिन भर की दुनियादारी बहुत बार उनकी सारी अभिरुचियों को चकनाचूर कर देती है। ऐसी ही स्थिति में वे मेरी रचना भी बेमन से सुनते हैं। मैंने अपनी पूरी जिन्दगी में लोगों से मिलने के अलावा किया ही क्या है ?और शायद इसीलिए मैं अपने श्रोता की नब्ज आसानी से पकड़ लेता

हूं। ऐसी स्थिति में फिर कभी आने का वायदा कर अपनी रचना सुनाना बंद कर देता हूं। लोग शायद सोचते हों कि रचना समाप्त हो गई, मगर वास्तव में ऐसा नहीं होता।" सत्यार्थी जी की बात काफ़ी हद तक सही थी। मगर उनके उत्तर ने मेरे मन में कुछ नई जिज्ञासाएं पैदा कर दीं। मैं उनसे पूछ बैठा, 'सत्यार्थी जी! क्या आप कभी किसी दुनियादारी में नहीं फंसे।' सत्यार्थी जी का उत्तर था, 'फंसा क्यों नहीं? मेरा भी अपना परिवार है। सरकारी दफ्तर की फाइलों के फीते खोलने और कसने में मैंने भी अपनी जिन्दगी के कुछ वर्ष बिताए हैं, मगर सच कहता हूं कि इन सब में फंसते हुए भी मैंने इनसे अलग रहने की भरपूर कोशिश की है। जब कभी मुझे ऐसा लगा कि ये चीजें मेरे ऊपर हावी होने वाली हैं तो मैंने इन से अपना नाता तोड़ लिया। बहुत मुश्किल होता है यह, मगर अब तो यह मेरी आदत में शुमार हो गया है।' मैंने पूछा, 'क्या आपके जीवन में कभी कभी कोई ऐसा प्रलोभन नहीं आया जिसने इन सम्बन्धों को तोड़ने में कोई दिक्क़त पेश की हो?' सत्यार्थी जी बोले, 'प्रलोभन तो आते ही रहे हैं। सन १९६९ की बात है। पंजाबी विश्वविद्यालय श्री बी० आर० नन्दा द्वारा गांधी जी पर लिखी पुस्तक 'महात्मा गांधी' का पंजाबी अनुवाद प्रकाशित करना चाहता था। श्री नारंगने इस पुस्तक के अनुवाद का काम मेरे पास भिजवा दिया। उन दिनों मेरी लड़की 'अलका' का विवाह होना था। इसी चक्कर में मैंने यह काम हाथ में ले लिया। लेकिन आधा काम समाप्त करते-करते यह लगने लगा कि मेरा लिखना-पढ़ना छूटता जा रहा है। मुझे यह मंजूर न था। पैसों की सख्त जरूरत होते हुए भी मैंने पांच हजार रुपये के पारश्रमिक वाले इस काम को बीच में ही छोड़ देने का निश्चय कर लिया। पटियाला जाकर डॉ० कृपाल सिंह नारंग से मिला और कहा कि यह काम मुझ से न हो सकेगा। आधा काम मैंने कर लिया है। आप चाहें तो कुछ पारश्रमिक दे दें, न चाहें तो न दें, मगर काम मैं हर्गिज न कर पाऊंगा। आप श्री एस० एस० अमोल से यह काम पूरा करवा लें। उनकी और मेरी अनुवाद शैली में कोई विशेष अन्तर नहीं है। और वे इस काम के लिए मना भी नहीं करेंगे। जैसे-तैसे मुझे मुक्ति मिल गई। ऐसी घटनाएं अनेकबार घटी हैं। जब से लोक-साहित्य भारतीय विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम का अंग बना है तब से बहुत से प्रकाशकों ने मेरा पीछा किया और चाहा कि मैं एक ऐसा संग्रह सम्पादित कर दूं और पाठ्यक्रम में लग सके। इससे मेरा भी कुछ भला हो जाएगा और उनका भी। कुछ विश्वविद्यालयों की पाठ्यक्रम समितियों के सदस्यों ने भी यह इच्छा व्यक्त की कि यदि मैं उनके साथ मिल कर लोक-साहित्य सम्बन्धी कोई पुस्तक सम्पादित कर दूं तो इससे मुझे कुछ आर्थिक लाभ हो सकता है। मगर मैं इस चक्कर में कभी नहीं फंसा।

मैं अच्छी तरह जानता हूं कि जो आदमी एक बार इस चक्कर में फंस जाता है वह इससे आसानी से मुक्त नहीं हो पाता। पैसे का चस्का बुरे से बुरे ऐब से भी बुरा है। इससे एक बार ही पीछा छुड़ाना बड़ा मुश्किल होता है और एक बार किसी तरह फांसी के इस फंदे से मुक्ति पाने के बाद दोबारा इसमें फंसना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

मैंने पूछा 'सत्यार्थी जी, आपने अपने लोक साहित्य सम्बन्धी कार्य से बहुत जल्दी ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी, फिर भला आपने उस क्षेत्र को छोड़कर कथा-साहित्य के क्षेत्र में क्यों पदार्पण किया ? क्या यह अच्छा न होता कि आप इसी क्षेत्र में लगे रहते ? आपके बाद तो लोक-साहित्य में आप जैसी लगन और निष्ठा के साथ काम करने वालों का अकाल पड़ गया है। 'सत्यार्थी जी ने तुरन्त उत्तर दिया, 'लोक-साहित्य अजायबघर में रखने की चीज नहीं है, लोक साहित्य तो व्यक्ति को जीवन को सही रूप में सोचने समझने की दृष्टि प्रदान करता है और जब किसी व्यक्ति को यह मौका हाथ लग जाय तो वह उसे कैसे छोड़ सकता है ? मैंने भी लोक-साहित्य कहां छोड़ा है ? लोक जीवन को देखने-समझने से मुझे अपने जीवन में जो नयी दृष्टि प्राप्त हुई है उसी के बूते पर में अपने साहित्य का सृजन करता हूँ।

मेरी हर रचना में—चाहे वह कविता हो या कहानी या फिर उपन्यास यह लोक-तत्व विद्यमान रहता है। एक और भी कारण है जिसने मुझे लोक-साहित्य के स्थान पर कथा-साहित्य के सृजन की ओर उन्मुख किया। जब मुझे ऐसा लगने लगा कि जो काम मैंने कर लिया है उसके बाद कोई नई चीज नहीं दे सकता तो मैंने सोचा कि पिष्ट-पेषण से क्या लाभ ? बहुत बार लोग अपनी सीमाओं को पहचानते हुए भी अपनी आत्मा के विपरीत काम करते हैं। कम से कम मैंने ऐसा कभी नहीं किया।

●

नग़मे का सफ़र

आख़िर फ़रिश्ता यम-मन्दिर की सीढ़ियां चढ़ गया।

राजधानी की इस गली में बैठा मैं समन्दर वाले शहर की उस बालकनी में खड़ी सलमा के आँसू देख रहा हूं।

उसके आँसू पलकों से बड़े हो गये।

समन्दर वाले शहर की लम्बी सड़क पर शव-यात्रा मेरी आँखों के सामने गुज़र गयी। मुझे अहसास हुआ कि यह तो मेरी-ही शव-यात्रा है।

—देवेन्द्र सत्यार्थी

(उर्दू कहानीकार कृश्न चन्दर की मृत्यु पर)

विद्या प्रकाश

लोक भारती की कविता

वैसे तो सत्यार्थी जी अनेक प्रतिभाओं के स्वामी हैं किन्तु लोक गीतों के चयन, संकलन और उनके द्वारा राष्ट्रीय आत्मा के साक्षात्कार के लिए उनका जैसा योगदान किसी अन्य साहित्यकार का नहीं रहा। सत्यार्थी जी का संपूर्ण साहित्य संगीतमय है। उनकी कविताएं तो मानो गान ही हैं। अर्थ की गंभीरता और शब्दों का माधुर्य भी उनकी कविताओं का विशेष गुण है। संक्षेप में उनके गाने में कविता है और उनकी कविता में गान। उनके गान, उनकी कविता प्रेरणा और स्फूर्ति से भरपूर हैं। इस बात के साक्षी वे सभी लोग हैं जिन्होंने उनके मुख से उनकी अपनी कविताओं का पाठ सुना है। छापे के अक्षरों में उनके शब्द कुछ कम रस देते हों—इससे तो मैं भी सहमत हूँ किन्तु उनके सम्मुख उनकी कविता यदि श्रोता को रस-विभोर न करे तो समझिए कि श्रोता साहित्य-गोष्ठी में बैठने का अधिकारी नहीं।

उनकी कविता और उनके सुर की धारा हृदय के द्वार खोल देती है—स्मृतिओं को जगा देती हैं। बशर्ते श्रोता निर्जीव न हो। बादलों से आई हुई हवा की तरह उनकी कविताओं का स्पर्श जीवन को एक ऐसी सुखद अनुभूति दे जाता है जिसका वर्णन केवल गुणज्ञ लेखक ही कर सकते हैं—मेरे जैसा साधारण मनुष्य नहीं। उनकी कविता दृश्यमान विरोधों में एक अजीब सा सामंजस्य प्रदान करती है। प्रत्येक पाठक अथवा श्रोता को उनकी कविता में निजी धर्म और विश्वासों का साक्षात्कार होने लगता है। यही कारण है कि सत्यार्थी जी की कविता कल्याण प्रद आनन्द की कविता कही जाती है।

जीर्णता और क्षुद्र-प्रयोजन सत्यार्थी जी के दुश्मन हैं। वे आज भी युवा हैं और उनके प्रयास अगस्त-मुनि के प्रयासों जैसे हैं। उनकी कविताओं में सर्व-श्रेष्ठ लक्ष्य की ओर बढ़ने का आह्वान मिलता है। उनकी कर्मठता तथा उनकी स्फूर्ति इस बात का प्रमाण है।

सत्यार्थी जी तर्क की आग से कभी झुलसे नहीं। उन्होंने सुकविता के

जल से सदैव अपनी रक्षा की है। यही कारण है कि उन्हें अनेक सभाओं और समाजों में कीर्ति मिली है। उनका हर शब्द दूसरे शब्द को हरियाली प्रदान करता है, माधुर्य प्रदान करता है। उनकी कविता में वर्णनीय विषय से तन्मय हो जाने की क्षमता है। सत्यार्थी जी जैसे कवि ही रसिक जन सहृदय कहे जाते है। वे कला-सुकुमार हृदय के व्यक्ति हैं।

सत्यार्थी जी ऐसे कवियों को कवि नहीं मानते जिन्हें अपने शब्दों पर विश्वास न हो। कवि का शब्द तो पर-प्राप्तव्य को प्राप्त कराने वाला श्रेष्ठ साधन होता है। ऐसे कवि कभी अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर नहीं हो सकते। वे संसार और साहित्य दोनों के लिए भार-स्वरूप हैं। ऐसे अधकचरे साथियों को सत्यार्थी जी अपने पथ की बाधा ही मानते हैं। उनके अनुसार 'काव्य साधना का क्षेत्र विपत्तियों से जूझने का क्षेत्र है। कबीर की तरह वे भी यही कहते हैं: —

जो घर फूंके आपना।
सो चले हमारे साथ।।

सत्यार्थी जी यह नहीं मानते कि हर नया विचार सनातन प्रथा को बरबाद कर देगा, संस्कृति को रसातल में पहुंचा देगा। सत्यार्थी जी के अनुसार प्राचीन के मध्य से नवीन नहीं हर नवीन से प्राचीन का जन्म होता है। जिसे लोग असंभव कहा करते हैं उसे सत्यार्थी जी ने वस्तुतः असंभव नहीं माना। सत्य के मार्ग पर चलना और उससे आनंद प्राप्त करना सत्यार्थी जी के जीवन का लक्ष्य है। कौन-सी मनोवांछा पूरी हुई कौन-सी नहीं हुई इसका हिसाब किताब उन्होंने कभी नहीं रखा। सत्यार्थी जी जैसी निस्पृहता केवल अखंड विश्वास से ही आती है। उनके जैसे अखंड-विश्वास का साधक एक बार चलने पर लौटता नहीं। जो अपने को ही नहीं संभाल सका वह दूसरे को क्या बल देगा। सत्यार्थी जी को निकट से जानने वाले लोग भी यह नहीं कह सकते कि अमुक दिन अमुक बात पर हमने उन्हें अवसाद-ग्रस्त देखा। अवसाद छोड़ देने और भय छोड़ देने का नाम ही आत्म-विजय है। इन दोनों दोषों से सत्यार्थी जी मुक्त हैं। यही कारण है कि उन्होंने कभी पीछे की ओर मुड़ कर नहीं देखा। वे केवल अभय चरणों के उपासक रहे और आज भी हैं। सत्यार्थी जी ने दूसरों की परवाह भी शायद ही कभी की है। औरों की बात से अपने आपको भुलसाना उन्होंने कभी सीखा ही नहीं।

जिस साधक में आगे बढ़ने का निश्चय है और जो समस्त क्षुद्र स्वार्थों को भूल चुका है, उसकी जीत अवश्य होगी। वह विघ्न बाधाओं को पार करता संसार को उल्लसित करता हुआ आगे जायेगा इसे नकारा नहीं जा सकता।

उसके प्रत्येक स्वर से अंधकार के क्षण आलोक के क्षणों में परिवर्तित हो जायेंगे यह निन्तात सत्य है।

आज अगर कोई ऐसे व्यक्ति को कैसा कुछ समझ कर धूल उड़ा रहा है, वह कल प्रातः काल हाथ में माला लेकर उसके पीछे भागेगा इसमें सन्देह नहीं। मदमत्त शक्तिशाली लोग कल ऐसे ही निर्द्वन्द्व व्यक्ति के सम्मुख नत-मस्तक होंगे इसमें भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं।

सत्य के ऐसे ही साधक और स्फूर्ति के जीवित स्वरूप सत्यार्थी जी को मेरा शतशत प्रणाम।[1]



सत्यार्थी जी स्वदेश ही नहीं विदेश के साहित्य में भी रुचि रखते हैं। डा० रामप्रसाद मिश्र की कृति 'होमर' के हिन्दी रूप पर आयोजित भारतीय साहित्यकार संघ की समीक्षा-गोष्ठी के अध्यक्ष के रूप में।

१. साप्ताहिक 'युग दर्शन' [दिल्ली] : १३ दिसम्बर १९६८।

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

जगमोहन

कागज बन गया गत्ता

दूर से देखने पर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, निकट आने पर कोई मनीषी महानुभाव और बात करने पर एक अल्हड़ व सहृदय साहित्यकार के जीवन्त प्रतीक।

गौर वर्ण। आयु लगभग ६८ वर्ष। भारीभरकम डीलडौल। विशाल मुखाकृति, चौड़ा माथा। शरीर पर खादी का ढीला-ढाला सफेद कुरता-पाजामा। ऊपर से खुले हुए बटनों का गहरे भूरे रंग का लम्बा कोट। वक्ष तक लहराती हुई सफेद दाढ़ी। पीछे आधी पीठ तक झूलते हुए सिर के बाल। आंखों पर चश्मा और चश्मे के भीतर से झांकने वाली आंखें अतीत के आइने में अपने अक्स को वर्तमान संदर्भ में खोजती हुई। दाएं हाथ में प्लास्टिक का एक थैला। और उसमें गुदड़ी के लाल सी रखी हुई एक मोटी कापी। चाल में मस्ती···और मस्तिष्क पर एक मानसिक दबाव।

इस व्यक्तित्व को आप किसी भी शाम कनाट प्लेस क्षेत्र में किसी काफी हाउस या रेस्तरां में अपने शिष्यों के मध्य बैठे देख सकते हैं। और यदि परिचित हैं तो बेसाख्ता आपके मुंह से निकलेगा—अरे, यह देवेन्द्र सत्यार्थी हैं।

जी हां, देवेन्द्र सत्यार्थी—साहित्य की युग धारा से कटा हुआ एक ऐसा साहित्यकार जो अपनी मान्यता को अनुमोदित करवाने के लिए समय को रोकने का असफल प्रयास कर रहा है।

देवेन्द्र सत्यार्थी ने हिन्दी साहित्य को क्या दिया, इस सत्य का निर्णय तो इतिहास करेगा, लेकिन इस तथ्य को ईमानदारी से स्वीकार किया जाना चाहिए कि जितना श्रम उन्होंने हिन्दी के लोकगीतों को संग्रहीत करने में किया है, उतना किसी अन्य साहित्यकार ने नहीं। इतना ही क्यों, आधुनिकता की झोंक में लोक-संस्कृति की हर विधा को उपेक्षणीय समझा गया और समझा जा रहा है। सत्यार्थीजी ने पूरे २० वर्ष तक अपनी पत्नी के साथ यायावरी जीवन बिताकर भारत के विभिन्न प्रदेशों की ५० बोलियों के ४ लाख लोकगीतों को संग्रहीत

किया, प्रकाशित करवाया।[1] यह था साहित्य के लिए किया गया ठोस कार्य। इस कार्य के लिए उन्होंने पाकिस्तान, श्रीलंका और बर्मा की यात्रा की। भावनात्मक रूप से यह कार्य अभी भी जारी है। आज भी राजधानी के नव लेखक, साहित्य में रुचि रखने वाले लोग सत्यार्थीजी से प्रेरणा लेते हैं, उनका आशीर्वाद ग्रहण करते हैं। शायद सत्यार्थीजी को यह सब आत्मसंतोष भी देता है। मेरी दृष्टि में राजधानी में शायद ही ऐसा कोई साहित्यकार हो जो नवलेखकों को प्रोत्साहित करने में इतनी रुचि लेता हो। सुनने के बाद सत्यार्थीजी शीर्षक से लेकर प्रेस तक का सुझाव दे देते हैं।

सन् १९०८ में पटियाला में जन्मे और १९४६ में दिल्ली में आए सत्यार्थी जी संभवतः प्रारम्भ से ही कुछ अक्खड़ रहे हों। क्योंकि वह बल रस्सी जल जाने के बाद उनमें अब भी है। एक बात और, यह अक्खड़पन कोई ऊपर से थोपी हुई विकृति नहीं है, इसमें पंजाब की मिट्टी की आत्मीय सुगन्ध है। यही कारण है कि आपकी बात का सिरा पकड़कर वह अपनी बात कहना शुरू कर देते हैं। संभवतः अतीत की स्वर्णिम स्मृतियां उनके मानस में पंख कटे पक्षी की तरह फड़फड़ाती है और इसी कारण उनका अहम् वर्तमान के प्रति नकारात्मक रुख अपनाए हुए है। जो भी हो, इतना सत्य है और इस सत्य को सत्यार्थीजी स्वीकार भी कर चुके हैं। 'आजकल जो लिखा जा रहा है, उसमें भाषा नहीं है।' भाषा से उनका क्या आशय था, इसका स्पष्टीकरण नहीं हो सका। हां इतना अवश्य हुआ—'अब से १४ वर्ष पूर्व लिखे उपन्यास 'अंधेरे बंद कमरे' (स्वर्गीय मोहन राकेश) को जब लोग भूल जाएंगे तभी मैं हिन्दी में लिखूंगा।'

लेकिन क्या ऐसा हो सकेगा···? समय की सापेक्षता अंधेरे बंद कमरे को अपना चुकी है। और विपरीत ध्रुव पर खड़े सत्यार्थीजी एक प्रश्न चिह्न बने अभी भी अपने परचम को फहराने का असफल प्रयास कर रहे हैं।

निश्चय ही सत्यार्थीजी जीवट के आदमी हैं। आयु की इस सीमा पर आ जाने के बाद आम आदमी थक जाता है, टूट जाता है और समझौता करके अस्तित्वहीन हो जाता है। लेकिन—'मेरी साहित्यिक यात्र अभी शुरू कहां हुई है। हां, इरादा अवश्य है ?'

कौन जानता है कि इस पड़ाव से आगे साहित्यिक यात्रा कब शुरू हो। लेकिन जो अंदर ही अंदर घुट रहा है, जो अभिव्यक्ति के लिए बेचैन है, सत्यार्थीजी इस सत्य को मानें या न मानें, वह किन्हीं अंधेरी वादियों में भटक गया है और राह की तलाश में उसके सामने हमेशा एक दीवार आ जाती है।

---

१. संपादक को इस कथन पर संन्देह है। (हिन्दुस्तान, ३ दि० १९७६ : पृ० ५।)

यह दीवार किसने खड़ी की है ?···फिर भी यह जीवट का आशावाद मुबारक !

१९४८ से १९५६ तक भारत सरकार के सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के साहित्यिक पत्र 'आजकल' के संपादक रहने वाले सत्यार्थीजी केवल लोकगीतों तक ही सीमित नहीं रहे। हिन्दी साहित्य की हर विधा पर उन्होंने अपनी कलम चलाई। कहानियां, उपन्यास निबन्ध ओर कविताएं सभी कुछ उन्होंने लिखा। पंजाबी साहित्य में भी उनका विशिष्ट स्थान है। गत वर्ष दिल्ली प्रशासन की साहित्य कला परिषद् उन्हें पंजाबी साहित्य के लिए पुरस्कृत भी कर चुकी है।

लेकिन अपने अक्खड़ स्वभाव के कारण सत्यार्थीजी शायद एक विधा भूल गए। वह थी खेमेबाजी। और इस विधा के न होने से इस आधुनिक युग में उनकी सारी साधना कुंठित होकर रह गई।

अब सत्यार्थीजी पांडुलिपि बगल में दबाए इधर-उधर घूम रहे हैं। परिचितों-अपरिचितों को हरिचंद अख्तर का यह शेर सुनाकर दिल की खलिस मिटा रहे हैं :

कैसे-कैसे, ऐसे वैसे हो गए,
ऐसे-वैसे, कैसे-कैसे हो गए।

अपनी पांडुलिपि उन्होंने मुझे दिखाई थी। पर पृष्ठ पर कई-कई चिप्पियां। अपने आप सफाई दी—पहले जो विचार आया, लिख लिया। फिर सोचा, नहीं इससे बेहतर यह रहेगा। पुराने के ऊपर एक नई चिप्पी। वह भी नहीं जंचा तो तीसरी···वह भी नहीं जमा तो चौथी···पांचवीं···। कापी का हर पृष्ठ गत्ता बन चुका है। और सत्यार्थीजी कहते हैं—इन चिप्पियों के नीचे मोहन-जोदड़ो है।

कौन खोजेगा उस मोहनजोदड़ो को ? और यदि वह आधुनिक मोहन-जोदड़ो ही है तो उसे दफन करने की जरूरत ही क्या थी ?

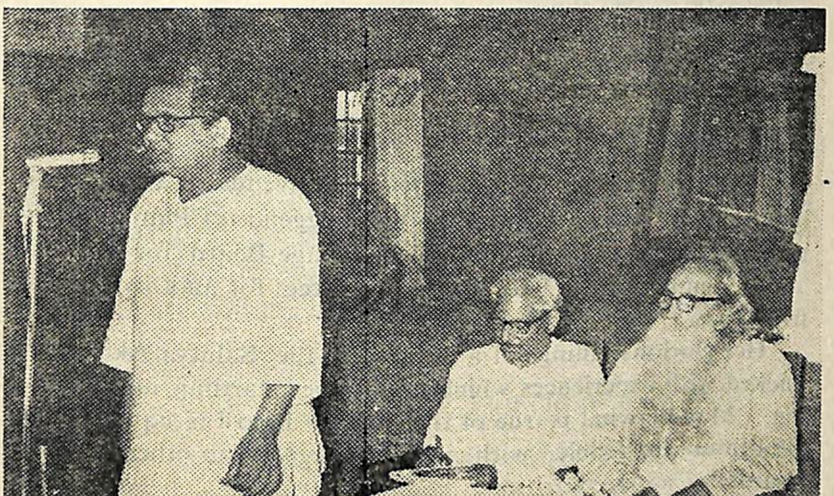
···आगे वह बताते हैं कि गत वर्ष स्वतंत्रता की रजत जयंती के अवसर पर उन्होंने एक नया उपन्यास लिखा है—नील यक्षिणी। वह उपन्यास का कथानक मुझे सुना रहे हैं। लग रहा है कि इस कथानक के माध्यम से वह अपनी पीड़ा का बयान कर रहे हैं। मैं सुनता रहता हूं और सोचता हूं कि सत्यार्थीजी से मिलने वालों की यह आम शिकायत है कि वह अपने उपन्यास का कथानक या कविता सुनाए बिना नहीं छोड़ते।

तभी वह कहते हैं। मेरी एक कविता भी है, लिख लो। इसे इंटरव्यू में अवश्य देना। कविता कैसी है यह निर्णय पाठक करेंगे। सत्यार्थीजी के आग्रह की पूर्ति मैं कर रहा हूं।

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

देशकाल की वही पुरानी चाल,
सुनी-सुनाई कहता रहता।
काट-काट कर लिखता रहता,
चेपी-चेपी नई लिखावट।
कागज बन गया गत्ता,
रचना तो अनुभव की बात।
न वेतन, न भत्ता,
अपना अनुभव, अपनी बात।
कनरस है अलबत्ता।

सत्यार्थीजी निर्लिप्प भाव से जा रहे हैं···सिंधिया हाउस के सामने लगे जामुन के पेड़ों की टहनियां हलके हवा के झोंके से काँपने लगी हैं।



पद्मश्री अलंकरण के उपलक्ष्य में आयोजित गोष्ठी में डा रामप्रसाद मिश्र, श्री सत्यार्थी की साहित्यिक यात्रा की सराहना करते हुए। साथ में श्रेय के संपादक डा० श्रीवास्तव

From Morning Echo

SATYARTHI IGNORED

Nothing could be more shocking than corruption in literary field. The cockpit is provided by the Sahitya Akademi, an autonomous body which seeks to promote regional languages and their authors. It has been infiltrated by unscrupulous individuals, who have tarnished the Akademi's fair name.

The selection of books for Sahitya Akademi's award is an occasion for the literary free-for-all. The battle rages throughout the year by way of lobbying, pressures, temptations and exercising various types of influences on the assessors and members of the Board.

This is revealed in "Rasidi Ticket" (Revenue Stamp), autobiography of Amrita Pritam, the living-legend of Punjabi literature and convener of the Punjabi Language Board for five years and a member of the Executive Committee for another term of five years.

Her glorious innings of a decade in the Sahitya Akademi is packed with experiences which are at once startling and revealing. May-be what is true of the Punjabi Board is equally relevant and applicable, with varying degrees, to other language boards !

Amrita Pritam narrates an instance of the how Board members are pressurised and cajoled. The year was 1972. There were nine books in the final run for consideration of the annual award.

Devinder, an author of several books in Punjabi, belongs to angry generation. Meeting Devinder was like an encounter with a wounded lion. His immediate reaction after his claim for the Akademi Award was brushed aside in 1972, is contained in a pensively worded article, "I Do Need a Coffin," published in

Nagmani, an illustrious Punjabi monthly. Amrita has narrated in her autobiography that Devinder's "Tin Rattan" (Three Nights) was the only book deserving an award in 1972.

What have you to say about the Sahityn Akademi awards in the light of what Amrita has written in her just published autobiography ?

Devinder : Prizes have seldom gone to the deserving ones because they do not hanker after these awards. Only the manipulators get the Sahitya Akademi Awards through their lobbying.

Q. This short of accusations and allegations can be made by all those who have been denied the award. What have you to substantiate your arguments ?

Devinder : This is no vague accusation. Bawa Balwant, a stalwart in Punjabi literature, was not considered fit for the prize because he would have been the last person to go about lobbying or enter into any underhand deal. Even in my own case, when my book was being considered for the award, I was approached on behalf of the person who had the final casting vote that if I was ready to part with half of the amount of the award my book would get his support. An interesting argument advanced in this case was that the other contestant was old and in need of money as he had to marry his daughter.

Q. What was your reaction ?

Devinder : "My reaction was : 'I do not need the coffin'."

Q. You have remarked that deserving books seldom get awards. In this context, I would draw your attention to the awards given to Shiv Batslvi, Kulwant Singh Virk, Dr Harbhajan Singh and quite a few others. Didn't they deserve the award ?

Devinder : I do not deny that Shiv's "Loona" deserved the prize but at what cost ! Poor Shiv got the award without the money. It is known by now that the entire award money of Rs 5,000 was shared by others and Shiv confessed this to me when I interviewed him for AIR. This remark was, however, deleted for reasons best known to you. Even Shiv had to do a lot of lobbying. Ask Dr Harbhanjan Singh about it. Dr

Surjit Singh Sethi was left out because he refused to compromise.

Q. May be what you say has some truth in it, but how do you conclude that assessors in toto are not above board ?

Devinder : You talk of selecting the right books. I would say that the selectors themselves are not the right type of people, I do not wish to say anything about one individual. I am against the system but ultimately it is the individual who forms the complex of this system. For instance, persons who have hardly contributed anything original which could be called creative writing or creative criticism become assessors of the writings of others and are accepted as critics.

Q. Can you be a little more specific ? Name any one individual who falls in this category ?

Devinder : I have no personal rancour against this or that person. It is a matter of common knowledge that persons like Dr Attar Singh, who have been on the committee, have no creative writing to their credit.

Q. Can't the award be given to a critic or for that matter can't a critic be associated with the Sahitya Akademi Board who has no original writing to his credit ?

Devinder : Certainly, a critic has a place in literature and it is always left to him to assess the writers in an objective manner. The fact, however, is whether the person claiming to be a critic has anything worthwhile to his credit in published form. If the answer is 'no,' I have nothing more to add.

To verify, Devinder's allegations, I approached Gurmukh Singh Jeet, who has been associated with the Sahitya Akademi as an assessor for a long time and is an author of several books in Punjabi, both fiction and criticism.

Gurmukh Singh 'Jeet' was both candid and forthright about the 'goings-on' in the Akademi. Incidentally, he had appeared before the Justice G. D. Khosla Committee and submitted a forceful memorandum, which was constituted to probe the working (or non-working) of the three Akademies.

Among the contemporary stalwarts Mr Justice Pritam Singh Saffer (poet), Mohinder Singh Sarna (short story writer) G. S. Khosla (dramatist), Devindra Satyarthi (poet and novelist) and a lot more are those whose claims have been ignored and who never clamoured for these awards.

Incidentally, specutation is rife that Narinder Pal Singh, a retired army officer turned journalist and a Punjabi novelist, is a sure bet to get an award in the near future.

If age is any criterion, as contended in the episode narrated by Amrita Pritam, Devindera Satyarthi, deserves special consideration; both for his pioneering collection of folk-lore and monumental contribution as a poet, short story writer and novelist.

Satyarthi woefully narrated that he was once made the offer to translate Tagore's 100 poems from Bengali to Punjabi and the remuneration fixed was Rs 400. This does not come even to Rs 40 a poem, because the cost of paper, transport expenses of visiting the Sahitya Akademi offices several times to get the assignment costs much more than this.

In order to assess how much money is spent by the Akademi, it is relevant here to mention that the three Akademies (Sahitya, Kala, and Sangeet) had a total annual budget of Rs 10 lakhs in 1972.[1]

●

धरती के गीत सार्वकालिक और सार्वलौकिक होते हैं, क्योंकि इनका निमंत्रण कभी संकीर्ण नहीं होता। इनकी पृष्ठ भूमि में जल-थल-आकाश तथा फल-फूल-शस्य के चित्र अपनी चिर नवीन छटा दिखाकर देखने वाली आँख पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहते चाहे वह व्यक्ति किसी विशेष लोक गीत की जन्म भूमि से हजारों कोस की दूरी पर क्यों न रहता हो और भले ही मूलभाषा में गीत का रसास्वादन करने के स्थान पर उसे इसका अनुवाद ही उपलब्ध हो। परन्तु इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि लोक गीत भौगोलिक कारणों से प्रभावित नहीं होते।

—देवेन्द्र सत्यार्थी, धरती गाती है

1 Morning Echo (New Delhi), September 15, 1976.

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

DEVENDRA SATYARTHI

THE REQUIEM OF THE ANCIENT GIPSY

The mourners prolong the requiem
O for whom does she play, this plaintive autumn flute,
Dying with her own melodies
Returning disguised as an echo
Over her own silent lips ?
Her song is etched in my heart—
"O Life ! you are an angel, come,
Bearing joyful messages from the heavens."
Like a little ringlet shaped on the lap
Of the glassy waters, of the lake,
Broken by some little stone,
Life, it floats out, bloats out into nothingness.

The fairy of the stage, Kalyani,
Is raining her sorrow into her palms,
Kept under her full eyes—
And lo, makes Mitro Marjani weep too—
The dancing peacock has demised,
And they never found even a feather of his tail—
This is a tale of just half a kiss.
And yet it must be shared by many,
Like the *Raga Hamir* upon the *Veena.*

One mourner rose and said : "The Gipsy.
Has to the other side gone, in the afternoon.
Upon a white elephant, borrowed I know,
But from where ?"

Another cried "Hail the clown Dev Kumar ;
Whose eyes opened like a history book ;
Of history half-a-century".

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

And with this they have killed the three monkeys.
For the spirit of wine
Have raised them into their airy dens.

One giggling like a clown : "That opal-eyes:
Keeps his picture in her heart."
Then another melodiously whispered :
His people live like trees."
There where others too who had things to say :

"His poetry is the cry of mother-earth."
Well-groomed are his pieces.
But fashioned false.
Like a gorgeous spiceless meal.

My own reflection, as if stored up :
"He is not dead yet, for
His third door is open still.
His horse even now whins.
By the ancient walls of the Lal Quila—
But of his anthema, I do not know.

How far it floats to die—
Squatting upon the waves of his songs.
Of what does the gipsy dread ?"
A *Thumori* in a large hall,
Each living note yearns a response.

Patches on paper.
Patches upon patches.
A patch work—*gatta*,
"Now here and now in *Kalkutta*
Now green, now yellow,
And now red.

Knocking at his own door, how long,
How long. I have seen his spirit,
Haunt the street of *Sonagachi*
In the *ghun-ghum* of grandmother *cherka*,
I have heard his *Lak Tunoo Tunoo*

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

He was in love with the saffron flower
That was his only fault.
He once declared that he was,
The son of Paris—but he died in a place
From where none ever returns."

The strings of the *Veena.*
Are now refusing to sing
And all this happened beyond the back yard—
And the weeping has turned to laughter,
And the sad hymns to vulgar sounds;
And this happened far beyond the tale.

The worms have through the golden book,
Worked leaving only its gild-bind
I have seen the nacent rays of the sun,
Splash gold on the *Kanchan Janga*—
This requiem now rose like the flooded *Ganga.*

What a difference there is—
Between the ending story,
And the story that never ends.

Suddenly the cup slipped off my hand—

Time, O Time ! spread thy eternal arms

I wail.

Transcreated
by SAMUL D BASTIAN.
from the original punjabi poem
"*Pracheon Gipsy.*" by Devendra Satyarthi

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

MONUMENTAL BOOKS

BY SATYARTHI

FOLKLORE

PUNJABI : Giddha (1936), Deeva Bale Sari Raat (1941), Punjabi Lok Sahitya Men Sainik (1970).

HINDI : Dharti Gati Hai (1948), Dheere Baho Ganga (1948), Bela Phoole Aadhi Raat (1950), Bajat Ave Dhol (1950), Chitron Men Lorian (1951).

URDU : Main Hoon Khana Badosh (1941), Gaye Ja Hindustan (1946).

ENGLISH : Meet My People (1946).

POEMS

PUNJABI : Dharti Dian Vajan (1941), Murka Te Kanak (1950), Buddhi Nahin Dharti (1953), Lakk Tuno Tuno (1957).

HINDI : Bandanwar (1949).

SHORT STORIES

PUNJABI : Kung Posh (1941), Sona Gachi (1951), Devta Dig Piya (1954), Tinn Buhian Wala Ghar (1961), Paris Da Adami (1970).

HINDI : Chattan Se Poochh Lo (1948), Chai Ka Rang (1950), Naye Dhan Se Pahle (1950), Sarak Nahin Bandook (1950).

URDU : Naye Devata (1941), Aur Bansuri Bajti Rahi (1945).

NOVELS

PUNJABI : Ghora Badshah (1965).

HINDI : Rath Ke Pahiye (1951), Kathputli (1952), Brahmputra (1956), Doodh Gaachh (1957), Katha Kaho Urvashi (1958).

AUTOBIOGRAPHY

HINDI : Chand Sooraj Ke Beeran (1954).

SKETCHES AND PORTRAITS

HINDI : Ek Yug Ek Prateek (1950), Rekhayen Bol Uthin (1950), Kya Gori Kya Sanvri (1950), Kala ke Hastakshar (1955).

COMPILATION

ENGLISH : Developing Villages in India (1947).

HINDI : Munshi Abhinandan Granth (1950).

with Rahul Sankrityayan
Hindi Sahitya Ka Brihad Itihas ; Lok Sahitya (1961).

PUNJABI : *With M.S. Randhawa* Punjabi Lok-Geet (1961).

TRANSLATION

Mitti Dian Moortan (by Ram Briksh Benipuri)

Ikottar Sau Kavita (Poems One Hundred And One by Rabindranath Tagore)

Amrit Santan (by Gopinath Mahanti).

IN THE PRESS

HINDI NOVELS :

Gupha
Shahar Men Doobta Samandar
Neel Yakashini

PUNJABI NOVELS :

Satluj Teri Saunh
Sooi Bazar

PUNJABI POEMS :

Prachin Gipsy

श्रेय : लोकभारती देवेन्द्र सत्यार्थी

पत्रिका सम्बन्धी घोषणा

१ प्रकाशन केन्द्र	५१-१ न्यू मार्केट, करोल बाग, नई दिल्ली-११०००५
२ अवधि	त्रैमासिक
३ भाषा	हिन्दी-अंग्रेजी
४ मुद्रक, प्रकाशक तथा सम्पादक	डा० मोहनलाल श्रीवास्तव
५ पता	संख्या १ के अनुसार
६ स्वामित्व	भारतीय साहित्यकार संघ

मैं घोषणा करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार है।

मोहनलाल श्रीवास्तव

मुद्रक, प्रकाशक तथा संपादक "श्रेय"

पश्यदेवस्य काव्यं

देर-सबेर यह तो अवश्य महसूस किया जायगा कि सत्यार्थी के मन में बैठे तुलसी को उनके साथ के राहगीरों ने कम पहचाना। जिस सांस्कृतिक समन्वय, सत्यानुसन्धान, विराट पुरुष की उपासना में तुलसी उपेक्षा, अपमान, दारिद्रय और उदासीनता के शूलों को सहते-सहते राममय हो गए थे, उसी कार्य के लिए सत्यार्थी निकले और निकले रह गए। घर होते हुए भी, ये बेघर हैं; ख़बर होते हुए भी ये बेख़बर; रहबर होते हुए भी ये बेरहबर हैं।

"एकला चलो रे" इनका पन्थ है। जन-जन में आदमी की पहचान के लिए निरन्तर लोक-साहित्य की साधना में लीन सत्यार्थी का लोकभारती वास्तविक स्वरूप है।

भारतीय साहित्यकार संघ का यह तरन्नुम रहा है कि वह मस्ती की आलम में उदासीनता और कटाक्ष की परवाह किए बिना भारत की स्वानुभूति और उसकी संकल्प-शक्ति की पूजा में लगा रहे। यही एक ऐसा मज़मून है, जिसे संजोने में अध्यात्म और आत्मविश्वास मिलता है—और इसीलिए सत्यार्थी हम सबको भा गए।